पुस्तक :
श्रावक प्रतिक्रमण-सूत्र
व्याख्याकार :
विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
चित्रांकन :
सत्यनारायण गोयल
प्रकाशक :
सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा
मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा
प्रथम प्रवेश :
सन् १९६०, अक्षय तृतीया
मूल्य :
एक रुपया

समर्पण

जिन की पावन - प्रेरणा ने
जिन की सतत - भावना ने
जिन की निशदिन की रटना ने
मुझे,
कलम पकड़ने को
तैयार कर ही दिया
प्रेरणा, भावना एवं रटना
को
उस भव्य-मूर्ति
मुनि श्री अखिलेश जी
को
सादर
सभक्ति
समर्पण

—विजय मुनि

विषयानुक्रमणिका

विषय पृष्ठाङ्क

	विषय		पृष्ठाङ्क
३३.	×		
३४.	×		
३५.	अष्टम अनर्थ दण्ड विरमण व्रत	....	१००
३६.	नवम सामायिक-व्रत	....	१०३
३७.	दशम देशावकाशिक-व्रत	....	१०७
३८.	एकादश पौषध व्रत	....	११३
३९.	द्वादश अतिथि-संविभाग-व्रत	....	११८
४०.	संलेखना सूत्र	....	१२१
४१.	आलोचना	...	१२३
४२.	अष्टादश पापस्थान	....	१२७
४३.	उपसंहार सूत्र	....	१२८
४४.	पांच पदों की वन्दना (पद्य)	....	१२९
४५.	पांच पदों की वन्दना (गद्य)	....	१३२
४६.	अनन्त चौवीसी	...	१३५
४७.	समुच्चय जीवों से क्षमापना	....	१३५
४८.	क्षमापना सूत्र	...	१३६
४९.	आवस्सहि इच्छाकारेण	...	१३८
५०.	ध्यान के विषय में	....	१३८
५१.	सामायिक आदि छह आवश्यक	...	१३८
	: परिशिष्ट :	...	१३९

× ३२ के बाद, ३५ की पाठ संख्या मुद्रण दोष से हो गई है।

सामायिक-सूत्र

सामायिक की परिभाषा

सामाइयं नाम—

"सावज्ज – जोग – परिवज्जणं,
निरवज्ज-जोग-पडिसेवणं च।"

सावद्य योगों का त्याग करना, और निरवद्य योगों में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।

: १ :

नमस्कार-सूत्र

मूल :

नमो अरि-हंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्व-साहूणं ।
एसो पंच-नमोक्कारो,
सव्व-पाव-प्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं ॥

अर्थ :

नमस्कार हो अरिहंतों को,
नमस्कार हो सिद्धों को,
नमस्कार हो आचार्यों को,
नमस्कार हो उपाध्यायों को,
नमस्कार हो लोक में सब साधुओं को !

यह पाँचों को किया हुआ नमस्कार,
सब पापों का सर्वथा नाश करने वाला है,
और संसार के सभी मङ्गलों में,
प्रथम मुख्य [भाव] मङ्गल है ।

व्याख्या :

जैन परम्परा में, नमस्कार मन्त्र का बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान है। इस का दूसरा नाम नवकार मन्त्र भी है। पंच परमेष्ठी भी इस को कहा जाता है। जिस व्यक्ति के मन में सदा नवकार मन्त्र के उदात्त भाव का चिन्तन चलता रहता है, उसका अहित संसार में कौन कर सकता है? इतिहास साक्षी है कि—इस महान् मन्त्र के स्मरण से शूली का सुन्दर सिंहासन बन गया है, और भयङ्कर विषधर सर्प फूल-माला में परिणत हो गया है। नवकार इह-लोक में तथा पर-लोक में सर्वत्र सर्व सुखों का मूल है।

नवकार मन्त्र मंगलरूप है। संसार में जितने भी मंगल हैं, यह उन सभी मंगलों में सर्व-श्रेष्ठ मंगल है। क्यों कि यह द्रव्य मंगल नहीं, भाव मंगल है। द्रव्य मंगल दधि-अक्षत आदि कभी अमंगल भी बन जाते हैं, किन्तु नवकार मन्त्र भाव मंगल होने से कभी अमंगल नहीं होता। भाव-मंगल ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के रूप में अनेक प्रकार का होता है।

नवकार मन्त्र में व्यक्ति-पूजा नहीं, गुण-पूजा का उदार भाव है। इस में जिन महान् आत्माओं के गुणों का स्मरण किया गया है, वे दो रूपों में हैं—देव और गुरु।

संसार-बन्धन के बीज-भूत— राग द्वेष का क्षय करने वाले तथा संसारी आत्माओं को भव दुःखों से मुक्त कराने वाले अरिहंत भगवान् देव हैं।

आठ कर्मों से मुक्ति पाने वाले भव-बन्धनों से सर्वथा के लिए विमुक्त सिद्ध भगवान् देव हैं।

स्वयं पवित्र आचार का पालन करने वाले, एवं दूसरों से भी आचार का पालन करवाने वाले आचार्य गुरु हैं।

द्वादशांगी जिन-वाणी के रहस्य के ज्ञाता, विमल ज्ञान का दान करने वाले और मिथ्यात्व के अन्धकार को सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से दूर करने वाले उपाध्याय गुरु हैं।

पांच महाव्रतों के पालन करने वाले, पांच समिति और तीन गुप्ति के धारण करने वाले, मोक्ष मार्ग के साधक साधु गुरु है।

उक्त पांच पदों को भाव-पूर्वक किया गया नमस्कार, सब पापों का नाशक है। संसार के समस्त मंगलों में, यह नमस्कार रूप-मंगल, भाव-मंगल होने के कारण, सब से श्रेष्ठ और सब से ज्येष्ठ मंगल है।

: २ :

गुरु-वन्दन सूत्र

मूल :

तिक्खुत्तो
आयाहिणं पयाहिणं करेमि,
वंदामि, नमंसामि,
सक्कारेमि सम्माणेमि,
कल्लाणं, मंगलं,
देवयं, चेइयं,
पज्जुवासामि,
मत्थएण वंदामि।

अर्थ :

तीन बार
दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करता हूँ,
वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ,
सत्कार करता हूँ, सम्मान करता हूँ,
आप कल्याण-रूप हो, मंगल-रूप हो,
देवता-स्वरूप हो, ज्ञान-स्वरूप हो,

मैं आपकी पर्युपासना=सेवा करता हूँ,
मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ।

व्याख्या :

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में, गुरु का पद सब से ऊँचा है। कोई दूसरा पद इसकी समानता नही कर सकता। गुरु जीवन-नौका का नाविक है। संसार के काम, क्रोध एवं लोभ आदि भयंकर आवर्तों में से वह हम को सकुशल पार ले जाता है। भारतीय-संस्कृति की अध्यात्म-साधना में, इसी कारण से गुरु को Supreme power कहा गया है।

'गुरु' शब्द में दो अक्षर हैं—'गु' और 'रु'। 'गु' का अर्थ है—अन्धकार तथा 'रु' का अर्थ है—नाशक। गुरु का अर्थ हुआ, अन्धकार का नाश करने वाला। शिष्य के मन में रहे अज्ञान-अन्धकार को दूर करने वाला 'गुरु' कहाता है।

गुरु वन्दन-सूत्र में गुरु को वन्दन किया गया है, और गुरु का स्वरूप बताया है।

गुरु मंगल-रूप है, देव-रूप है, ज्ञान-रूप है—अतः मैं विनम्र भाव से उस के चरणों में वन्दन एव नमस्कार करता हूँ।

: ३ :

सम्यक्त्व-सूत्र

मूल : अरिहंतो मह देवो,
जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण-पण्णत्तं तत्तं,
इअ सम्मत्तं मए गहियं॥

अर्थ : अरिहंत भगवान् मेरे देव हैं,
यावज्जीवन श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं,
जिन-प्ररूपित अहिंसा आदि तत्त्व मेरा धर्म है,
यह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण की।

व्याख्या :

यह 'सम्यक्त्व-सूत्र' है। सम्यक्त्व अध्यात्म-जीवन की प्रथम भूमिका है। आगे चल कर श्रावक आदि की भूमिकाओं में जो कुछ भी त्याग वैराग्य, जप-तप तथा व्रत-नियम आदि साधनाएँ की जाती है, उन सब की बुनियाद सम्यक्त्व को कहा गया है। यदि मूल में सम्यक्त्व नहीं है, तो अन्य सब तप-जप आदि क्रियाएँ केवल अज्ञान-कष्ट ही मानी जाती हैं, धर्म नहीं। क्योंकि वे संसार की वृद्धि करती हैं, संसार का क्षय नहीं करतीं। सम्यक्त्व के बिना होने वाला व्यावहारिक चारित्र, चाहे वह थोडा है, या बहुत, वस्तुतः कुछ है ही नहीं।

सम्यक्त्व का सीधा-सादा अर्थ किया जाए, तो विवेक दृष्टि होता है। सत्य और असत्य का मौलिक विवेक ही जीवन को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है।

प्रस्तुत सूत्र में व्यवहार सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। यहाँ बताया गया है, कि किसको देव समझना, किस को गुरु समझना और किस को धर्म समझना? साधक प्रतिज्ञा करता है—

राग-द्वेष विजेता अरिहंत मेरे देव हैं, पञ्च महाव्रतधारी साधु मेरे गुरु हैं और जिन-भाषित दया-मय आदि सच्चा धर्म मेरा धर्म है।

परन्तु निश्चय सम्यक्त्व तत्त्व-रुचि रूप होता है। जीवादि ज्ञेय को जानने की, संवर-निर्जरा आदि उपादेय को ग्रहण करने की और हिंसा, असत्य आदि हेय को छोड़ने की जो अभिरुचि-विशेष, वह निश्चय सम्यक्त्व है।

साधना का मूल सम्यक्त्व है। इस के विना किसी भी प्रकार की सच्ची साधना नहीं हो सकती। अतः सामायिक की साधना से पूर्व सम्यक्त्व की शुद्धि आवश्यक है।

: ४ :

गुरु गुण-स्मरण-सूत्र

मूल : पंचिंदिय-संवरणो,
तह नवविह-बंभचेर-गुत्ति-धरो।
चउविह-कसाय-मुक्को,
इअ अट्ठारस-गुणेहिं संजुत्तो॥

पंच - महव्वय - जुत्तो,
पंचविहायार - पालण - समत्थो।
पंच - समिओ तिगुत्तो,
छत्तीस - गुणो गुरू मज्झ॥

अर्थ : पाँच इन्द्रियों के विषय को रोकने वाले,
तथा ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों को धारण करने
चार प्रकार के कषायों से मुक्त,
उक्त अट्ठारह गुणो से संयुक्त।
पाँच महाव्रत से युक्त,
पाँच प्रकार का आचार पालने में समर्थ,
पाँच समिति और तीन गुप्ति वाले,
इस भाँति छत्तीस गुणों वाले मेरे गुरु हैं।

व्याख्या :

यह गुरु-गुण स्मरण-सूत्र है। इस में गुरु की महिमा का गुण-गान किया गया है। प्रत्येक साधक को गुरु के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति का भाव रखना चाहिए। क्योंकि साधक पर सद्गुरु का इतना विशाल ऋण है, कि उसका कभी बदला चुकाया नहीं जा सकता। गुरु की महत्ता अपार है। अतः प्रत्येक धर्म-साधना के प्रारम्भ में सद्गुरु को श्रद्धा-भक्ति के साथ अभिवन्दन करना चाहिए।

सामायिक की साधना से पूर्व, सामायिक की साधना के मार्ग का बोध कराने वाले गुरु का स्मरण आवश्यक है। अतः प्रस्तुत सूत्र में गुरु का स्मरण किया गया है। गुरु का स्वरूप बताया गया है, गुरु के गुणों का परिचय दिया गया है।

छत्तीस गुणों के धारक पवित्र आत्मा को ही गुरु कहा गया है।

: ५ :

आलोचना-सूत्र

मूल : इच्छाकारेण संदिसह भगवं !
इरियावहियं, पडिक्कमामि ? इच्छं !
इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए, विराहणाए। गमणागमणे-पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरिय-क्कमणे, ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडासंताणा-संकमणे।
जे मे जीवा विराहिया,
एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया,

चउरिंदिया, पंचिंदिया !
अभिहया, वत्तिया, लेसिया,
संघाइया, संघट्टिया, परियाविया,
किलामिया, उद्दविया,
ठाणाओ ठाणं संकामिया,
जीवियाओ ववरोविया,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अर्थ : हे भगवन् ! इच्छा-पूर्वक आज्ञा दीजिये, ताकि मैं ऐर्या-पथिकी अर्थात् गमनागमन की क्रिया का प्रतिक्रमण करूँ ? [गुरु की ओर से आज्ञा मिल जाने पर, अथवा गुरु न हों, तो अपने संकल्प से ही आज्ञा पाकर श्रावक को कहना चाहिए] आज्ञा स्वीकार है ।

आते जाते मार्ग में अथवा श्रावक का धर्माचार पालने में, जो भी कुछ [जीवों की] विराधना हो गई हो, तो उस पाप से प्रतिक्रमण चाहता हूँ = निवृत्त होना चाहता हूँ ।

एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते हुए किसी जीव को पैरों के नीचे दवाने से, इसी प्रकार सचित्त बीज, हरितकाय = वनस्पति, अवश्याय=आकाश से पड़ने वाली ओस, उत्तिंग = चींटियों के विल, पनग = पाँच वर्ण की शैवाल-काई, दक = सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ी के जालों को दवाने से ।

[किन जीवों की विराधना की हो ?]

इन जीवों की मैंने विराधना की हो; जैसे कि एकेन्द्रिय = एक स्पर्श इन्द्रिय वाले पृथिवी आदि पांच स्थावर; द्वीन्द्रिय = दो स्पर्शन और रसन इन्द्रिय वाले कीड़े आदि; त्रीन्द्रिय = तीन स्पर्शन, रसन, घ्राण इन्द्रिय वाले जूं कीड़ी आदि; चतुरिन्द्रिय = चार स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु इन्द्रिय वाले मक्खी मच्छर आदि; पञ्चेन्द्रिय = पाँच स्पर्शन-त्वचा, रसन = जिह्वा, घ्राण = नाक, चक्षु = आँख, श्रोत्र = कान इन्द्रिय वाले सर्प मैंढक आदि।

[किस तरह की पीड़ा दी हो ?]

सामने आते पैरों से मसले हों, धूल या कीचड़ आदि से ढँके हों, भूमि पर रगडे हों, एक दूसरे से आपस में टकराए हों, छूकर पीड़ित किए हों, परितापित=दुःखित किए हों, मरण-तुल्य किए हों, भयभीत किए हों, एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदले हों, किं बहुना, प्राण-रहित भी किए हों, तो मेरा वह सब पाप मिथ्या = निष्फल होवे।

व्याख्या :

जैन धर्म में विवेक का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक क्रिया में विवेक रखना, यतना करना, श्रमण एवं श्रावक दोनों साधकों के लिए आवश्यक है। जो भी काम करना हो, सोच-विचार कर, देख-भाल कर, यतना के साथ करना चाहिए। पाप का मूल प्रमाद है, अविवेक है। साधक के जीवन में विवेक के प्रकाश का बड़ा महत्त्व है।

'आलोचना-सूत्र' विवेक और यतना के संकल्पों का जीता-जागता

चित्र है। आवश्यक कार्य के लिए कहीं इधर-उधर आना-जाना आदि कार्य हुआ हो, तब यतना का ध्यान रखते हुए भी यदि कहीं प्रमाद-वश किसी जीव को पीड़ा पहुँची हो, तो उसके लिए उक्त पाठ में पश्चात्ताप किया गया है। जैन धर्म का साधक जरा-जरा-सी भूलों के लिए भी पश्चात्ताप करता है, और हृदय को निष्पाप बनाने का प्रयत्न निरन्तर करता रहता है।

प्रस्तुत पाठ के द्वारा आत्म-विशुद्धि का मार्ग बताया गया है। जिस प्रकार कपड़े में लगा हुआ मैल खार और साबुन से साफ किया जाता है, उसी प्रकार गमनागमनादि क्रिया करते समय अशुभ योग आदि के कारण अपने विशुद्ध संयम धर्म में किसी भी प्रकार का कुछ भी पाप मल लगा हो, तो वह सब पाप प्रस्तुत पाठ के चिन्तन से साफ किया जाता है। आलोचना के द्वारा अपने संयम-धर्म को पुनः स्वच्छ, शुद्ध और साफ बनाया जाता है।

: ६ :

उत्तरीकरण-सूत्र

मूल :

तस्स उत्तरीकरणेणं,
पायच्छित्त-करणेणं,
विसोहि-करणेणं,
विसल्ली-करणेणं
पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए,
ठामि काउस्सग्गं।

अर्थ : उस [व्रत या आत्मा को] विशेष शुद्धि करने के लिए,
[गुरुदेव के समीप] प्रायश्चित्त करने के लिए,

[आत्मा की] विशेष निर्मलता के लिए,
[आत्मा को] शल्य यानी माया से रहित करने के लिए,
पाप-कर्मों का मूलोच्छेद = सर्व-नाश करने के लिए,
मैं कायोत्सर्ग करता हूँ = शरीर की क्रिया का त्याग करता हूँ।

व्याख्या :

यह उत्तरीकरण-सूत्र है। इस में कायोत्सर्ग का संकल्प किया जाता है। जो वस्तु एक बार मलिन हो जाती है, वह एक बार के प्रयत्न से ही शुद्ध नहीं हो जाती। उस की विशुद्धि के लिए बार-बार प्रयत्न करना होता है।

यह कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का सूत्र है। कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। काय अर्थात् शरीर का उत्सर्ग अर्थात् त्याग। अभिप्राय यह है, कि कायोत्सर्ग करते समय साधक अपने शरीर की ममता छोड़कर आत्म-भाव में प्रवेश करता है। कायोत्सर्ग में शरीर की चञ्चलता के साथ-साथ मन और वचन की चञ्चलता का भी त्याग होना चाहिए।

स्वीकृत व्रत की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त आवश्यक है। वह भाव-शुद्धि से होता है, और भाव-शुद्धि शल्य के त्याग बिना नहीं हो सकती। और शल्य-त्याग के लिए ही कायोत्सर्ग किया जाता है।

: ७ :

आगार-सूत्र

मूल : अन्नत्थ ऊससिएणं,
नीससिएणं,
खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं,

वाय-निसग्गेणं,
भमलीए, पित्तमुच्छाए।
सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं,
सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं,
सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं,
एवमाइएहिं आगारेहिं,
अभग्गो, अविराहिओ,
हुज्ज मे काउस्सग्गो।
जाव अरिहंताणं, भगवंताणं,
नमोक्कारेणं, न पारेमि ;
ताव कायं
ठाणेणं, मोणेणं, भाणेणं,
अप्पाणं वोसिरामि।

अर्थ : [कायोत्सर्ग में काय के व्यापारों का परित्याग करता हूँ, परन्तु जो शारीरिक क्रियाएँ स्वभावतः हरकत में आ जाती हैं] उनको छोड़ कर।
[कौनसी क्रियाओं का आगार = छूट है ?]
उच्छ्वास = ऊँचे श्वास से, निःश्वास = नीचे श्वास से, खांसी से, छींक से, उबासी से, डकार से, वातनिसर्ग = अपान वायु से, भ्रान्ति = चक्कर से, पित्त मूर्च्छा = पित्त के प्रकोप से होने वाली मूर्च्छा से
सूक्ष्म रूप से अंगों के संचार = हिलने से;
सूक्ष्म रूप से थूक या कफ के निकलने से;

सूक्ष्म रूप से दृष्टि = नेत्र के फड़क जाने से;
[पूर्वोक्त आगारों यानी छूटों के सिवा अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भी जगह बदलने की छूट है, अतः]
इत्यादि और भी आगारों से मेरा कायोत्सर्ग अखण्डित तथा अविराधित होवे।

[कायोत्सर्ग कब तक है ?]

जब तक अरिहन्त भगवान् को प्रकटरूप से नमस्कार कर के अर्थात् 'नमो अरिहंताणं' पढ़ कर कायोत्सर्ग न पार लूँ ;

तब तक एक स्थान पर शरीर से स्थिर हो कर, वचन से मौन रख कर, मन से धर्म-ध्यान में एकाग्रता ला कर, अपने आप को पाप-व्यापारों से वोसराता हूँ = अलग करता हूँ।

व्याख्या :

यह आगार-सूत्र है। साधक जीवन में निवृत्ति आवश्यक है, किन्तु उस की भी एक सीमा है। कायोत्सर्ग में शरीर की क्रियाओं को रोकने का प्रयत्न है, फिर भी शरीर के कुछ व्यापार ऐसे हैं, जो बराबर होते रहते हैं। उन को किसी भी प्रकार से बन्द नहीं किया जा सकता। यदि हठात् बन्द करने का प्रयत्न होता है, तो उस में लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना रहती है।

अतः कायोत्सर्ग से पहले यदि उन व्यापारों के सम्बन्ध में छूट न रखी जाए, तो फिर कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का भङ्ग होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने प्रस्तुत आगार-सूत्र का निर्माण किया है। कायोत्सर्ग से पूर्व ही कुछ छूट रख लेने के कारण प्रतिज्ञा-भङ्ग का दोष नहीं लगता। इसी तथ्य को समझने के लिए आगार-सूत्र है।

: ८ :

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

मूल : लोगस्स उज्जोयगरे,
धम्म-तित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं,
चउवीसं पि केवली ॥१॥

उसभमजियं च वंदे,
संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं,
जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥

सुविहिं च पुप्फदंतं,
सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं,
धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥

कुन्थुं अरं च मल्लिं,
वंदे मुणिसुव्वयं नमि-जिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं,
पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

एवं मए अभिथुआ,
विहूय-रयमला, पहीणजरमरणा ।

चउवीसं पि जिण-वरा,
तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥
कित्तिय-वंदिय-महिया,
जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग-बोहिलाभं,
समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागर-वर-गंभीरा,
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

अर्थ : लोक=संसार में धर्म का उद्योत=प्रकाश करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, [राग द्वेष के] जीतने वाले, [कर्मरूपी] शत्रुओं के नाश करने वाले, केवल ज्ञानी चौवीस तीर्थङ्करों का मैं कीर्तन = स्तवन करूंगा ॥१॥

ऋषभदेव तथा अजितनाथ को वन्दना करता हूँ। संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, और रागद्वेष के जीतने वाले चन्द्रप्रभ भगवान को भी वन्दना करता हूँ ॥२॥

सुविधिनाथ=पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, रागद्वेष के विजेता अनन्तनाथ, धर्मनाथ, तथैव शान्तिनाथ भगवान को वन्दना करता हूँ ॥३॥

कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, एवं राग-द्वेष के विजेता नमिनाथ को वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी को भी वन्दना करता हूँ ॥४॥

जिनकी मैंने इस भाँति स्तुति की है, जिन्होंने कर्मरूपी रज तथा मल को दूर कर दिया है, जो जरा-मरण से सर्वथा रहित हो गए हैं, वे राग-द्वेष के जीतने वाले जिनवर चौबीस तीर्थङ्कर मुझ पर प्रसन्न हों ॥५॥

जिन की इन्द्रादि देवों ने स्तुति की है, वन्दना की है, उपासना की है, और जो अखिल संसार में सब से उत्तम हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे आरोग्य, सम्यग्बोधि, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें ॥६॥

जो अनेक चन्द्रमाओं से भी अधिक निर्मल हैं, जो अनेक सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं, जो महासागर के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्रदान करें ॥७॥

व्याख्या :

यह चतुर्विंशति-स्तव सूत्र है। भक्ति साहित्य में यह एक अनूठी रचना है। इस के प्रत्येक शब्द में भक्ति भाव का अखण्ड स्रोत प्रवाहित हो रहा है।

दिव्य पुरुषों का स्मरण मन को पवित्र बनाता है। दिव्य आत्मा के ध्यान से मन भी दिव्य बन जाता है।

प्रस्तुत पाठ में भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है, वे हमारे इष्ट देव हैं। अहिंसा और सत्य का मार्ग बताने वाले हैं, वे हमारे परम देव हैं। उनका स्मरण

करना, उनका उत्कीर्तन करना और उनका जप करना, हम सब का ही कर्तव्य है।

भगवान् का ध्यान करने से, भगवान् के नाम का जप करने से और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने से जीवन दिव्य बनता है।

: ९ :

सामायिक-सूत्र

मूल : करेमि भन्ते ! सामाइयं,
सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।
जाव-नियमं[1] पज्जुवासामि,
दुविहं तिविहेणं,
मणेणं, वायाए, काएणं,
न करेमि, न कारवेमि,
तस्स भन्ते !
पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि !

अर्थ : हे भगवन् ! मैं सामायिक (ग्रहण) करता हूँ,
समस्त पाप-क्रियाओं का परित्याग करता हूँ।

---

१. जावनियम के आगे जितनी सामायिक करनी हों, उतने ही मुहूर्त कहने चाहिएं, जैसे—जावनियम मुहूर्त एक, मुहूर्त दो आदि।

जब तक मैं नियम में स्थित रह कर पर्युपासना करूँ, तब तक दो करण [करना, कराना] और तीन योग से अर्थात् मन, वचन, और काय से (पाप कर्म) न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा।

[जो पाप-कर्म पहले हो गए हैं, उनका] हे भगवन् ! प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरुदेव ! आप की साक्षी से गर्हा करता हूँ।

अन्त में, मैं अपनी अन्तरात्मा को पाप-व्यापार से वोसराता हूँ = अलग करता हूँ।

व्याख्या :

यह प्रतिज्ञा-सूत्र है। इस में साधक सामायिक करने की प्रतिज्ञा करता है।

सामायिक एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यायाम है। व्यायाम भले ही थोड़ी देर के लिए हो, दो घड़ी के लिए ही हो, परन्तु उसका प्रभाव और लाभ स्थायी होता है।

सामायिक में दो घड़ी बैठकर आप अपना आदर्श स्थिर करते हैं। सामायिक बाह्य भाव से हट कर स्वभाव में रमण करने की कला है। सम-भाव की साधना ही सामायिक है।

प्रस्तुत पाठ में सामायिक का स्वरूप बताया गया है। जब तक जीवन में सच्ची सामायिक नहीं आती, तब तक जीवन पावन नहीं बन सकता। सामायिक की साधना ही सब से मुख्य साधना है।

: १० :

प्रणिपात-सूत्र

मूल : नमोत्थु णं !

अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं,
तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं,
पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं,
पुरिस-वर-पुण्डरियाणं, पुरिस-वर-गंधहत्थीणं;
लोगुत्तमाणं, लोग-नाहाणं, लोग-हियाणं,
लोगपईवाणं, लोग-पज्जोयगराणं;
अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं,
सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं;
धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं,
धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंत-चक्कवट्टीणं;
दीव-ताण-सरण-गइ-पइट्ठाणं,
अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं, वियट्टछउमाणं;
जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं
बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं;
सव्व-न्नुणं, सव्व-दरिसीणं,

सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाह-,
मपुणरावित्ति-सिद्धि-गइ-नामधेयं ठाणं[1] संपत्ताणं;
नमो जिणाणं, जियभयाणं !

अर्थ : नमस्कार हो अरिहंत भगवान् को, [अरिहन्त भगवान् कैसे हैं ?] धर्म की आदि करने वाले हैं, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, अपने आप ही प्रबुद्ध हुए हैं; पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह हैं, पुरुषों में पुण्डरीक कमल हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती हैं;

लोक में उत्तम हैं, लोक के नाथ हैं, लोक के हित-कर्ता हैं, लोक में दीपक के समान हैं, लोक में धर्म का उद्द्योत करने वाले हैं।

अभय दान के देने वाले है, ज्ञान-नेत्र के देने वाले हैं, धर्म मार्ग के देने वाले अर्थात् बताने वाले हैं, शरण के देने वाले हैं, संयम जीवन के देने वाले हैं, बोधि = सम्यक्त्व के देने वाले हैं।

धर्म के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म-रथ के सारथी हैं, चार गति के अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म-चक्रवर्ती हैं;

संसार समुद्र में द्वीप = टापू हैं, शरण हैं, गति हैं, प्रतिष्ठा हैं, अप्रतिहत अर्थात् किसी भी आवरण से अवरुद्ध न हो सकें—ऐसे श्रेष्ठ केवल ज्ञान और केवल दर्शन के

---

१. अरिहंत की स्तुति में 'ठाणं संपत्ताणं' के स्थान पर 'ठाणं संपाविउ कामाणं' कहना चाहिए।

धारण करने वाले हैं, मोहनीय प्रमुख घातिकर्म से तथा प्रमाद से रहित हैं;

स्वयं राग-द्वेष के जीतने वाले है, दूसरों को जिताने वाले है, स्वयं संसार-सागर से तर गए है, दूसरों को तारने वाले है, स्वयं बोध पाए हुए हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हुए हैं, दूसरों को मुक्त करने वाले हैं;

तीन काल और तीन लोक के सूक्ष्म तथा स्थूल सभी पदार्थों के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं, और इसी प्रकार सब के द्रष्टा होने से सर्वदर्शी हैं;

शिव = कल्याणरूप, अचल = स्थिर, अरुज = रोग से रहित, अनन्त = अन्तरहित, अक्षय = क्षयरहित, अव्याबाध = बाधा पीड़ा से रहित, पुनरागमन से भी रहित 'सिद्धि-गति' नामक स्थान-विशेष अर्थात् अवस्था-विशेष को प्राप्त कर चुके हैं; [अरिहन्त के लिए 'ठाणं संपाविउं कामाणं' आता है, उसका अर्थ है—सिद्धि-गति नामक स्थान को भविष्य में पाने वाले हैं।

नमस्कार हो, भय के जीतने वाले, राग-द्वेष के जीतने वाले जिन भगवानों को !

व्याख्या :

यह प्रणिपात-सूत्र है। इस में अरिहन्त भगवान् की स्तुति की गई है। इस पाठ को शक्र स्तव भी कहते हैं। इन्द्र ने भगवान् की इसी पाठ से स्तुति की थी। अतः स्तुति साहित्य में यह महत्त्व पूर्ण पाठ है।

'नमोऽत्थुणं' के पाठ में तीर्थङ्कर भगवान् के विश्व-हितंकर निर्मल गुणों का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया गया है।

अरिहन्त भगवान् लोक में उत्तम हैं। लोक के नाथ है, लोक में दीपक हैं, लोक में ज्ञान का प्रकाश करने वाले हैं।

अरिहन्त भगवान् धर्म के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत[1] पाठ में अनेक उपमाओं द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है।

: ११ :

समाप्ति-सूत्र

मूल : एयस्स नवमस्स सामाइय-वयस्स,
पंच अइयारा, जाणियव्वा, न समायरियव्वा,
तं जहा :—
मणदुप्पणिहाणे,
वयदुप्पणिहाणे,
कायदुप्पणिहाणे,
सामाइयस्स सइ अकरणया,
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।
सामाइयं सम्मं काएण,
न फासियं, न पालियं,
न तीरियं, न किट्टियं,
न सोहियं, न आराहियं,
आणाए अणुपालियं न भवइ,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

---

१. प्रणतिपात-सूत्र आदि सामायिक के पाठों की विस्तृत व्याख्या एवं विवेचन उपाध्याय श्रद्धेय अमरचन्द्रजी म० कृत सामायिक-सूत्र भाष्य में देखिए।

अर्थ : प्रस्तुत नौवें सामायिक व्रतके पांच अतिचार=दोपविशेष हैं, जो मात्र जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। वे पांच इस प्रकार हैं :—
मन को कुमार्ग में लगाना,
वचन को कुमार्ग में लगाना,
काय को कुमार्ग में लगाना,
सामायिक की ठीक स्मृति न रखना,
सामायिक को अव्यवस्थित ढंग से करना,
उक्त दोपों के कारण मुझे जो भी दुष्कृत=पाप लगा हो,
वह सब [आलोचना के द्वारा] मिथ्या=निष्फल होवे!

सामायिक व्रत सम्यक् रूप से, काया से,
न स्पर्शा हो, न पाला हो,
पूर्ण न किया हो, कीर्तन न किया हो,
शुद्ध न किया हो, आराधन न किया हो,
वीतराग की आज्ञानुसार पालन न हुआ हो, तो
तन्-सम्बन्धी मेरा सब पाप निष्फल हो।

व्याख्या :

यह समाप्ति सूत्र है। साधक अपनी साधना में सावधानी रखता है, फिर भी उस मे भूलों का होना सहज है। पर भूल का संशोधन कर लेना, उसका अपना कर्तव्य है।

प्रस्तुत पाठ में सामायिक व्रत के पाँच अतिचार बताए गए हैं, जिन को जान तो लेना चाहिए, पर उनका आचरण नहीं करना चाहिए।

सामायिक व्रत का सम्यक् रूप से ग्रहण चाहिए, सम्यक् रूप से स्पर्शन चाहिए, सम्यक् रूप से पालन चाहिए, तभी उसकी साधना सम्यक् साधना हो सकती है।

सामायिक का लक्षण

समता सर्व - भूतेषु,
संयमः शुभ-भावना ।
आर्त - रौद्र - परित्यागः;
तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥

सब जीवों पर सम-भाव रखना, पांच इन्द्रियोंका संयम, शुभ-भावना, आर्त-रौद्र ध्यान का परित्याग करना—सामायिक व्रत है।

सामायिक - विशुद्धात्मा,
सर्वथा घाति-कर्मणः ।
क्षयात् केवल माप्नोति;
लोका लोक-प्रकाशकम् ॥

सामायिक की साधना से विशुद्ध होकर, यह आत्मा घाति-कर्मों का पूर्ण क्षय कर के लोक-अलोक व्यापी केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पण—प्रस्तुत पुस्तक में सामायिक-सूत्र के सभी पाठों की व्याख्या संक्षेप में दी गई है। विस्तृत विवेचन, विस्तृत विश्लेषण के लिए देखिए, उपाध्याय श्रद्धेय अमरचन्द्र जी म० कृत सभाष्य सामायिक-सूत्र।

सामायिक-सूत्र

परिशिष्ट

सामायिक का स्वरूप

जो समो सव्व-भूएसु,
　　तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ,
　　इइ केवलि-भासियं ॥

—आचार्य भद्रबाहु

जो साधक त्रस और स्थावर— समग्र जीवों पर सम-भाव रखता है, उसकी सामायिक, शुद्ध सामायिक है। ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

परिशिष्ट

सामायिक करने की विधि

शान्त तथा एकान्त स्थान में भूमि का अच्छी तरह प्रमार्जन कर, श्वेत तथा शुद्ध आसन लेकर, गृहस्थ-वेष पगडी पजामा कोट आदि उतार कर. शुद्ध वस्त्र धोती एवं उत्तरासन धारण कर मुख पर मुख-वस्त्रिका बांध कर, पूर्व तथा उत्तर की ओर मुख करके बैठकर या खड़े हो कर सामायिक-सूत्र के पाठों को इस प्रकार से बोले—

नवकार तीन बार,
सम्यक्त्वसूत्र = अरिहन्तो, तीन बार,
गुरु-गुण-स्मरणसूत्र = पंचिदिय, एक बार,
गुरु-वन्दनसूत्र = तिक्खुत्तो तीन बार,
[वन्दन कर आलोचना की आज्ञा लेना]
आलोचनासूत्र = इरियावही, एक बार,
उत्तरीकरणसूत्र = तस्स उत्तरी, एक बार,
आगारसूत्र = अन्नत्थ, एक बार,
[पद्मासन आदि से बैठ कर या खड़े होकर] कायोत्सर्ग = ध्यान करना
[कायोत्सर्ग = ध्यान में] लोगस्स,[1] एक बार,
नमो अरिहंताणं, पढ़ कर ध्यान खोलना,
प्रगट रूप में लोगस्स, एक बार
गुरु वन्दनसूत्र = तिक्खुत्तो तीन बार,
[गुरु से, या वे न हों, तो भगवान् की साक्षी से सामायिक की आज्ञा लेना]

---

१. इरियावही का ध्यान भी करते है।

सामायिक प्रतिज्ञासूत्र = करेमि भन्ते, एक बार,

[दाहिना घुटना भूमि पर टेक कर, बांयां घुटना खड़ा कर उस पर अंजलि-बद्ध दोनों हाथ रख कर]

प्रणिपातसूत्र = नमोत्थुरणं, दो बार पढ़े,

दो नमोत्थुरणं में पहला सिद्धों का, दूसरा अरिहंतों का है। अरिहन्तों के नमोत्थुणं में 'ठाणं संपत्तरणं' के बदले 'ठाणं 'संपाविउ' कामाणं' पढ़ना चाहिए।

४८ मिनिट तक अर्थात् सामायिक के काल में स्वाध्याय, धर्मचर्चा, एवं आत्म-ध्यान करना चाहिए।

सामायिक पारने की विधि

गुरु-वन्दन-सूत्र = तिक्खुत्तो तीन बार,
आलोचना सूत्र = इरियावही, एक बार,
उत्तरीकरण सूत्र = तस्स उत्तरी, एक बार,
आगार सूत्र = अन्नत्थ, एक बार
[पद्मासन आदि से बैठ कर या खड़े होकर कायोत्सर्ग करना]
कायोत्सर्ग में लोगस्स एक बार,
नमो अरिहन्ताणं पढ़कर ध्यान खोलना,
प्रगट रूप में लोगस्स एक बार,
[दाहिना घुटना टेक कर बांयां घुटना खड़ा कर, उस पर अंजलि-बद्ध दोनों हाथ रख कर]
प्रणिपातसूत्र = नमोत्थुरणं दो बार,
सामायिक समाप्तिसूत्र = एयस्स० एक बार,
नवकार मन्त्र = नौ बार।

सामायिक के बत्तीस दोष–

मन के दश दोष

(१) अविवेक, (२) यश की इच्छा, (३) धनआदि का लाभ चाहना, (४) गर्व, (५) भय, (६) निदान = भोग प्राप्ति के लिए धर्म की बाजी लगा देना, (७) संशय = फल के प्रति सन्देह रखना, (८) रोष = क्रोध आदि कषाय करना, (९) अविनय और (१०) अबहुमान = भक्ति की भावना न रखना।

वचन के दश दोष

(१) कुवचन = गन्दे वचन बोलना, (२) सहसात्कार = विना विचारे यों ही ऊटपटांग बोलना, (३) असदारोपण = मिथ्या उपदेश देना या किसी पर झूठा कलंक लगाना,(४) निरपेक्ष = शास्त्र से विरुद्ध बोलना (५) संक्षेप = सूत्र पाठ को शीघ्रता-वश संक्षेप से कहना, (६) क्लेश = सामायिक में किसी से झगड़ा कर बैठना, (७) विकथा = राजा, देश, स्त्री और भोजन आदि की बातें करना, (८) हास्य = हँसी-मजाक करना, (९) अशुद्ध = सूत्र पाठ को घटा बढ़ा कर या अशुद्ध बोलना, (१०) मुण-मुण = कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट पढ़ना या बोलना।

काय के बारह दोष

(१) अयोग्य आसन से बैठना, (२) बार बार आसन बद-लना, (३) इधर-उधर झाँकते रहना, (४) पाप के काम करना, (५) विना कारण दीवार आदि का सहारा लेना, (६) विना कारण पैर पसारना। (७) आलस्य के कारण

अंगड़ाई आदि लेना, (८) शरीर को मटकाना, (९) शरीर का मैल उतारना, (१०) गृहस्थ के सीने-पिरोने आदि के काम करना, (११) नींद लेना, (१२) हाथ-पैर आदि दबवाना। सामायिक में उक्त ३२ दोषों का त्याग करना आवश्यक है।

सामायिक की शुद्धि

द्रव्य शुद्धि : सामायिक के लिए जो भी आसन, वस्त्र, रजोहरण या पूंजनी, माला, मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि साधन है, वे सब शुद्ध एवं साफ होने चाहिएँ।

क्षेत्र शुद्धि : क्षेत्र का अर्थ स्थान है। अतः जिस स्थान पर बैठने से चित्त में चंचलता आती हो, स्त्री-पुरुषों के अधिक यातायात से पवित्र विचार-धारा टूटती हो, विषय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द तथा दृश्य होते हों, किसी प्रकार के क्लेश की संभावना हो, ऐसे स्थान पर सामायिक नहीं करनी चाहिए। सामायिक का स्थान एकान्त तथा शान्त हो।

काल शुद्धि : सामायिक का काल ऐसा हो, जब कि गृहस्थी की झंझटें न सताएं, चित्त खिन्न न हो, दूसरों के मन में तथा अपने मन में भी शीघ्रता, घबराहट या अरुचि न हो। इसके लिए प्रातःकाल और सायंकाल का समय ठीक है। स्थिर-चित्त का साधक कभी भी कर सकता है।

भाव शुद्धि : भाव शुद्धि से अभिप्राय है—मन, वचन और शरीर की शुद्धि। मन, वचन एवं शरीर की शुद्धि का अर्थ है—इनकी एकाग्रता। जब तक मन, वचन और शरीर की एकाग्रता न हो, चंचलता न रुके, तब तक बाह्य विधि-विधान जीवन में विकास नहीं ला सकते।

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र

उपक्रम

प्रतिक्रमण की परिभाषा

स्वस्थानाद् यत् पर-स्थानं,
प्रमादस्य वशाद् गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः;
प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

प्रमाद-वश शुद्ध परिणतिरूप आत्म-भाव से गिर कर (हटकर) अशुद्ध परिणति रूप पर-भाव को प्राप्त करने के बाद, फिर से आत्म-भाव को प्राप्त करना, प्रतिक्रमण है।

: १ :

उपक्रम-सूत्र

मूल : आवस्सही,
इच्छाकारेण संदिसह भगवं !
देवसियं पडिक्कमणं ठाएमि ।
देवसिय-नाण-दंसण-
चरित्ताऽचरित्त तव-
अइयार-चिंतणत्थं,
करेमि, काउसग्गं ।

अर्थ : अवश्यमेव (आवश्यक कार्य है)
इच्छापूर्वक (प्रतिक्रमण करने की)
आज्ञा दीजिए,
हे भगवन् !
दिवस-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूँ ।
दिवस-सम्बन्धी ज्ञान और दर्शन,
चारित्र-अचारित्र (संयमाऽसंयम),
अनशन आदि द्वादश विध तप,
(इस भांति स्वीकृत आचार) के दूषणों का,
चिन्तन (स्मरण) करने के लिए,
कायोत्सर्ग, (शरीर के ममत्व भाव का त्याग)
करता हूँ ।

व्याख्या :

साधक गुरु के समक्ष उपस्थित होकर कहता है—"भंते ! आप मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए, जिस से मैं दिवस-सम्बन्धी प्रतिक्रमण कर के दिवस-सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन, चारित्राचारित्र (देश चारित्र) और तप के अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग करूँ।"

प्रस्तुत पाठ में यह कहा गया है, कि साधक को अपनी साधना में जागृत रहना चाहिए। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना में भूल-चूक से जो अतिचार अर्थात् दोष लग जाते है, उन का एकाग्र-भाव से चिन्तन करना चाहिए, विचार करना चाहिए। संध्याकाल में दिन के अतिचारों का और प्रातःकाल में रात के अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए।

: २ :

संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र

मूल :

इच्छामि पडिक्कमिउं,
जो मे देवसिओ अइयारो कओ,
काइओ, वाइओ, माणसिओ,
उस्सुत्तो, उम्मग्गो,
अकप्पो, अकरणिज्जो,
दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ,
अणायारो,
अणिच्छियव्वो, असावग-पाउग्गो,
नाणे तह दंसणे, चरित्ताचरित्ते,

सुए, सामाइए,
तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं,
पंचण्हं अणुव्वयाणं,
तिण्हं गुणव्वयाणं,
चउण्हं सिक्खावयाणं,
बारसविहस्स सावग-धम्मस्स
जं खण्डियं, जं विराहियं,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : इच्छा करता हूँ, प्रतिक्रमण करने की,
जो मैं ने, दिवस-सम्बन्धी अतिचार किया हो,
काय का, वचन का, मन का,
उत्सूत्र [सूत्र के विरुद्ध] मार्ग के विरुद्ध (वीतराग मार्ग के विपरीत)
कल्प (आचार) विरुद्ध, अकरणीय (जो करने योग्य न हो)
दुर्ध्यान रूप, दुश्चिन्तन रूप,
अनाचार रूप,
अनिच्छित रूप, जो श्रावक के योग्य न हो,
ज्ञान में तथा दर्शन में, संयमासंयम में,
श्रुत (ज्ञान) में, सामायिक व्रत में,
तीन गुप्तियों की, चार कषायों की
पाँच अणुव्रतों की,
तीन गुण-व्रतों की,
चार शिक्षा व्रतों की,
(इस प्रकार) द्वादश प्रकार के श्रावक धर्म की,

जो खण्डना की हो, जो विराधना की हो,
उस का, पाप मुझ को मिथ्या हो।

व्याख्या :

मनुष्य देव भी है, और राक्षस भी। यदि वह सदाचार के मार्ग पर चले, तो अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है, और यदि वह दुराचार के कुमार्ग पर चले, तो अपना पतन भी कर सकता है। मनुष्य के पास तीन शक्तियां हैं—मन, वचन और काय। प्रस्तुत पाठ में इन्हीं तीनों शक्तियों से दिन-रात में होने वाली भूलों का परिमार्जन किया जाता है, और भविष्य में अधिक सावधान रहने की सुदृढ़ धारणा बनाई जाती है।

यह प्रतिक्रमण का सामान्य-सूत्र है। इस में आचार-विचार सम्बन्धी भूलों का प्रतिक्रमण किया जाता है। उक्त पाठ में कहा गया है, कि—

"मैं स्थिर चित्त होकर कायोत्सर्ग करने की इच्छा करता हूं। मैंने मन, वचन, काय से जो कोई अतिचार किया, सूत्र-विरुद्ध भाषण किया, धर्म के प्रतिकूल आचरण किया, न करने योग्य काम किया, आर्त-ध्यान एवं रौद्र-ध्यान किया, मेरे मन में अशुभ विचार पैदा हुए, स्वीकृत नियमों का भंग किया, अयोग्य वस्तु की अभिलाषा की, श्रावक धर्म के विपरीत आचरण किया, ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की साधना में मन, वचन, और काय को स्थिर न रखा, क्रोध, मान, माया एवं लोभ—इन चार कषायों का दमन न किया।

पांच अणु-व्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षा-व्रत—श्रावक के इन बारह व्रतों की एक देश से खण्डना की हो, सर्व देश से विराधना की हो, उक्त दोषों में से किसी भी दोष का सेवन किया हो, तो वह मेरा दोष दूर हो।"

श्रावक प्रतिक्रमण-सूत्र

अतिचार-आलोचना

व्रत के दूषण

व्रत के चार दूषण होते हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार।

किसी भी स्वीकृत व्रत को तोड़ने का संकल्प करना, अतिक्रम है। तोड़ने के साधन जुटाना, तैयारी करना, व्यतिक्रम है। व्रत को एक देश से, एक अंश से खण्डित करना, अतिचार है। व्रत को सर्व देश से, पूर्ण रूप से भंग करना, अनाचार है।

: ३ :

ज्ञानातिचार

मूल : आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे। एयस्स सिरिनाणस्स जो मे अइयारो कओ, तं आलोएमि।

जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पय-हीणं, विणय-हीणं, जोग-हीणं, घोस-हीणं, सुट्ठु दिन्नं, दुट्ठु पडिच्छियं।

अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झाइयं।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : आगम तीन प्रकार कहा है। जैसे कि, शब्दरूप आगम, अर्थ रूप आगम, उभय रूप आगम। इस ज्ञान का जो मैंने अतिचार किया हो, तो उस की मैं आलोचना करता हूँ।

सूत्र को उलट-पलट कर पढ़ा हो, अन्य सूत्रों का पाठ अन्य सूत्रों से मिलाया हो, हीन अक्षर युक्त पाठ किया हो, अधिक अक्षर युक्त पाठ किया हो, पद हीन पढ़ा, विनय-रहित पाठ किया, योग-हीन पढ़ा हो, उदात्त

आदि स्वर रहित पढ़ा हो, पात्र-कुपात्र का विचार किए विना पढ़ाया हो, दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो।

अकाल में स्वाध्याय किया हो, काल में स्वाध्याय न किया हो, अस्वाध्याय में स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न किया हो।

जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किया हो, तो उस का पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

व्याख्या :

जैन धर्म में श्रुत (ज्ञान) को भी धर्म कहा है। विना श्रुत-ज्ञान के चारित्र कैसा? श्रुत तो साधक के लिए तीसरा नेत्र है, जिस के विना जीव शिव बन ही नहीं सकता। साधक को आगम-चक्षु कहा गया है।

श्रुत की, आगम की आशातना साधक के लिए अत्यन्त भयावह है। जो श्रुत की अवहेलना करता है, वह साधना की अवहेलना करता है—धर्म की अवहेलना करता है। श्रुत के लिए अत्यन्त श्रद्धा रखनी चाहिए। उस के लिए किसी प्रकार की भी अवहेलना का भाव रखना घातक है।

प्रस्तुत पाठ में कहा गया है, कि—"मैं ने शब्द रूप, अर्थ-रूप एवं उभय-रूप—तीनों प्रकार के आगम-ज्ञान के विषय में जो किसी प्रकार का अतिचार किया हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ।

प्रस्तुत पाठ में ज्ञान के चौदह अतिचार बताए गए हैं। जैसे सूत्र को उलट-पलट कर पढ़ना, अन्य सूत्रों का पाठ अन्य सूत्रों में मिला कर पढ़ना, हीन अथवा अधिक अक्षर पढ़ना, विनय रहित होकर पढ़ना, उदात्त आदि स्वर रहित पढ़ना, पात्र-अपात्र का विचार किए विना किसी को पढ़ाना, शास्त्र द्वारा निषिद्ध संध्याकाल आदि स्वाध्याय के अकाल में स्वाध्याय करना, और शास्त्र द्वारा विहित प्रथम प्रहर आदि स्वाध्याय के

काल में स्वाध्याय न करना मृतक कलेवर आदि से युक्त अशुचि स्थान में स्वाध्याय करना और स्वाध्याय के योग्य शुचि स्थान में प्रमादवश स्वाध्याय न करना, आदि ज्ञान के चौदह अतिचारों का वर्णन इस में किया गया है।

: ४ :

दर्शनातिचार

दर्शन सम्यक्त्व-रत्न पदार्थ के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँः—

१. जिन-वचन[1] में शङ्का की हो,
२. पर-दर्शन[2] की इच्छा की हो,
३. कर्म-फल[3] के विषय में सन्देह किया हो,
४. पर-पाखण्डी की प्रशंसा की हो,
५. पर-पाखण्डी का संस्तव (परिचय) किया हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

: ५ :

प्रथम अहिंसा अणुव्रत के अतिचार

प्रथम—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उस की मैं आलोचना करता हूँ :—

१. क्रोधादि-वश त्रस जीवों को गाढ़े बन्धन से बांधा हो,
२. गाढ़ा घाव किया हो,

---

१. जिन भाषित तत्त्व में,
२. पर मत की वाञ्छा की हो,
३. क्रिया के फल में सन्देह किया हो,

३. अंगोपांगों का छेदन-भेदन किया हो,
४. प्रमाण से अधिक भार लादा हो,
५. भक्त-पान[1] का विच्छेद किया हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

: ६ :

द्वितीय सत्य अणुव्रत के अतिचार

द्वितीय—स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उस की मैं आलोचना करता हूँ,

१. किसी को झूठा कलंक दिया हो,
२. किसी का रहस्य प्रकट किया हो,
३. स्त्री-पुरुष का मर्म प्रकाशित किया हो,
४. किसी को मिथ्या उपदेश दिया हो,
५. कूट लेख लिखा हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

: ७ :

तृतीय अस्तेय अणुव्रत के अतिचार

तृतीय—स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. चोर की चुराई वस्तु ली हो,
२. चोर को सहायता दी हो,

---

१. भोजन-पानी ।

३. राज्य[1]-विरुद्ध काम किया हो,
४. झूठा तोल, झूठा माप किया हो,
५. वस्तु में मेल-संमेल किया हो,

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

: ८ :

चतुर्थ ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार

चतुर्थ—स्थूल मैथुन विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उस की मैं आलोचना करता हूँ :—

१. इत्वरिक परिगृहीता से गमन किया हो,
२. अपरिगृहीता से गमन किया हो,
३. अनङ्गक्रीडा की हो,
४. पर-विवाह कराया हो,
५. काम-भोग की तीव्र अभिलाषा की हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

: ९ :

पंचम अपरिग्रह अणुव्रत के अतिचार

पंचम—स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. खेत घर आदि के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,
२. हिरण्य[2] सुवर्ण के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,

---

१. विरोधी राज्य में व्यापार आदि के लिए प्रवेश किया हो।
२. चांदी-सोना,

३. धन धान्य के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,
४. द्विपद[1] चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,
५. कुप्य[2] के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

: १० :

षष्ठ दिशा परिमाण व्रत के अतिचार

षष्ठ—दिशा परिमाण विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. ऊर्ध्व दिशा के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,
२. अधो दिशा के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,
३. तिर्यक्[3] दिशा के परिमाण का अतिक्रमण किया हो,
४. क्षेत्र-वृद्धि की हो,
५. क्षेत्र परिमाण के विस्मृत हो जाने से, क्षेत्र परिमाण का अतिक्रमण किया हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

: ११ :

सप्तम-उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार

सप्तम – उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

---

१. द्विपद = दास दासी, चतुष्पद = गाय आदि पशु,
२. बरतन आदि घर की सामग्री,
३. पूर्व, पश्चिम आदि तिरछी दिशा ।

१. सचित्त का आहार किया हो,
२. सचित्त[1] प्रतिवद्ध का आहार किया हो,
३. अपक्व का आहार किया हो,
४. दुष्पक्व का आहार किया हो,
५. तुच्छ[2] ओषधि का आहार किया हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा-मि दुक्कडं

: १२ :

पंच दश कर्मादान

पञ्च दश—कर्मादान के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—
इङ्गाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडी-कम्मे, भाडी-कम्मे, फोडी-कम्मे।

दन्त-वाणिज्जे, लक्ख-वाणिज्जे, रस-वाणिज्जे, केस-वाणिज्जे विस-वाणिज्जे।

जंत पीलणिया-कम्मे, निल्लंच्छणिया-कम्मे, दवग्गि-दावणिया-कम्मे, सर-दह-तलाव-सोसणिया-कम्मे, असइ जण-पोसणिया-कम्मे।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

---

१. सचित्त-संयुक्त,
२. बड़ पीपल आदि के असार फल अथवा जिनमें डालने योग्य भाग अधिक हो, वे फल।

: १३ :

अष्टम अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के अतिचार

अष्टम—अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के विषय में जो कोई अति-चार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. काम-कथा की हो,

२. भाण्ड-चेष्टा की हो,

३. विना प्रयोजन अधिक बोला हो,

४. अधिकरण जोड़ कर रखे हों,

५. उपभोग-परिभोग अधिक बढ़ाए हों,

जो मैं ने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: १४ :

नवम सामायिक व्रत के अतिचार

नवम—सामायिक व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. मन का अशुभ योग प्रवर्ताया हो,

२. वचन का अशुभ योग प्रवर्ताया हो,

३. काय का अशुभ योग प्रवर्ताया हो,

४. सामायिक की स्मृति न की हो,

५. सामायिक का काल पूर्ण न किया हो,

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: १५ :

दशम देशावकाशिक व्रत के अतिचार

दशम—देशावकाशिक व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. मर्यादित सीमा के बाहर की वस्तु मंगाई हो,
२. मर्यादित सीमा के बाहर वस्तु भेजी हो,
३. शब्द करके चेताया हो,
४. रूप दिखा कर अपना भाव प्रकट किया हो,
५. कंकर आदि फैंक कर दूसरे को बुलाया हो,

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा-मि दुक्कडं।

: १६ :

एकादश पौषध व्रत के अतिचार

एकादश—पौषध व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. पौषध व्रत में शय्या संथारा की प्रतिलेखना न की हो,
२. उसकी प्रमार्जना न की हो,
३. उच्चार-पासवण भूमि की प्रतिलेखना न की हो,
४. उस की परिमार्जना न की हो,
५. पौषध व्रत का सम्यक् पालन न किया हो,

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: १७ :

द्वादश अतिथि-संविभाग व्रत के अतिचार

द्वादश अतिथि संविभाग व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. सूझती वस्तु सचित्त वस्तु पर रखी हो,
२. अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढँक दिया हो,
३. काल का अतिक्रमण किया हो,
४. अपनी वस्तु को दूसरे की बताया हो,
५. मत्सर-भाव से दान दिया हो,

जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: १८ :

संलेखना के अतिचार

संलेखना के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

१. इस लोक के सुख की वाञ्छा की हो,
२. पर-लोक के सुख की वाञ्छा की हो,
३. असंयत जीवन की वाञ्छा की हो.
४. मरण की वाञ्छा की हो,
५. काम भोग की वाञ्छा की हो,

जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: १९ :

अष्टादश पाप

अष्टा दश पाप-स्थानक के विषय में, जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ :—

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह,
क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान,
पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति, माया मृषा, मिथ्या दर्शन शल्य,

इन अष्टादश पाप स्थानों में से जो कोई दिवस सम्बन्धी पाप-स्थान सेवन किया हो, कराया हो, अनुमोदन किया हो, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: २० :

निन्यानवें अतिचार

चौदह ज्ञान के, पांच सम्यक्त्व के, साठ बारह व्रतों के, पन्द्रह कर्मादान के, पांच संलेखना के, इस प्रकार निन्यानवें अतिचारों के विषय में, जो कोई दिवस सम्बन्धी,

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार,
सेवन किया हो, कराया हो, अनुमोदन किया हो, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: २१ :

समग्र अतिचार चिन्तन

मूल : तस्स सव्वस्स, देवसियस्स अइयारस्स,
दुब्भासियस्स, दुव्विचिन्तियस्स, दुच्चिट्ठियस्स,
आलोयंतो पडिक्कमामि।

अर्थ : उन सब की, (अर्थात्) दिवस-सम्बन्धी अतिचारों की जो दुर्वचन रूप हैं, बुरे संकल्प रूप हैं, काय की कुचेष्टा रूप हैं— आलोचना करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ।

व्याख्या :

प्रस्तुत पाठ में, समस्त अतिचारों की आलोचना की गई है। साधक कहता है, कि मैं ने अपने मन में जो बुरा चिन्तन किया, वाणी से किसी के प्रति बुरा-भला कहा, काय से खोटी चेष्टा की हो, तो उस सब पाप की मैं आलोचना करता हूँ।

प्रत्येक व्रत के अलग-अलग अतिचारों की आलोचना करने के बाद, इस में समग्र-भाव से आलोचन किया गया है।

: २२ :

द्वादशावर्त गुरु वन्दन-सूत्र

मूल : इच्छामि खमा-समणो ! वंदिउं, जावणिज्जाए, निसीहियाए। अणुजाणह मे मिउग्गहं।
निसीहि, अहोकायं, काय-संफासं।
खमणिज्जो भे किलामो।
अप्पकिलंताणं बहु-सुभेण भे दिवसो वइ-क्कंतो !
जत्ता भे ! जवणिज्जं च भे ?
खामेमि खमा-समणो ! देवसियं वइक्कमं।
आवस्सिआए पडिक्कमामि।

खमा-समणाणं, देवसियाए, आसायणाए, तित्तिसन्नयराए, जं किं चि मिच्छाए, मण-दुक्कडाए, वय-दुक्कडाए, काय-दुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोहाए, सव्व-कालियाए, सव्वमिच्छोवयाराए, सव्व धम्माइ-क्कमणाए, आसायणाए !

जो मे अइयारो कओ,

तस्स, खमा-समणो ! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।

अर्थ : [वन्दना की आज्ञा] ।

हे क्षमा-श्रमण ! यथाशक्ति पाप-क्रिया से निवृत्त हुए शरीर से (आपको) वन्दना करना चाहता हूँ ।

[अवग्रह-प्रवेश की आज्ञा] अतः मुझको परिमित अवग्रह की, अर्थात् अवग्रह में कुछ सीमा तक प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए ।

[गुरु की ओर से आज्ञा होने पर, गुरू के समीप बैठकर] अशुभ क्रिया को रोक कर (आपके) चरणों का अपनी काय से—मस्तक से और हाथ से स्पर्श [करता हूँ] (मेरे छूने से) आपको जो बाधा हुई, वह क्षन्तव्य = क्षमा के योग्य है ।

[कायिक कुशल की पृच्छा] अल्प ग्लान वाले आप श्री का बहुत आनन्द से आज का दिन बीता ?]

[संयम-यात्रा की पृच्छा] आपकी संयम-यात्रा (निर्बाध है ?)

[यापनीय की पृच्छा] और आपका शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ पीड़ा से रहित है ?

[गुरु की ओर से एवं कहने पर स्वापराधों की क्षमा-याचन] हे क्षमा श्रमण ! (मैं) दिवस-सम्बन्धी अपने अपराध को खिमाता हूँ, चरण-करण रूप आवश्यक क्रिया करने में जो भी विपरीत अनुष्ठान हुआ हो, उससे निवृत्त होता हूँ !

[विशेष स्पष्टीकरण] आप क्षमा-श्रमण की दिवस-सम्बन्धिनी तेंतीस में से किसी भी आशातना के द्वारा [आशातना के प्रकार] जिस किसी भी मिथ्या-भाव से की हुई, दुष्ट मन से की हुई, दुष्ट वचन से की हुई, क्रोध से की हुई, मान से की हुई, माया से की हुई, शरीर की दुश्चेष्टाओं से की हुई, लोभ से की हुई, सर्व काल में की हुई, सब प्रकार के मिथ्या-भावों से पूर्ण सब धर्मों को उल्लंघन करने वाली आशातना से। जो भी मैंने अतिचार किया हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, विशेष निन्दा करता हूँ, आशातनाकारी अतीत आत्मा का पूर्ण रूप से परित्याग करता हूँ।

व्याख्या :

यह गुरु वन्दन सूत्र है। षट् आवश्यक में तीसरा आवश्यक वन्दन है। गुरु को विनम्र भाव से वंदन करना और सुख शान्ति पूछना, शिष्य का परम कर्तव्य है। साधक पर गुरु का महान् उपकार होता है, क्योंकि

गुरू ही साधना-पथ का निर्देशक होता है। अरिहन्तों के बाद में गुरु ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति हैं। गुरु को वन्दन करना, भगवान् को वन्दन करना है। प्रस्तुत पाठ में गुरु वन्दन की पद्धति का वर्णन है।

आज का मानव धर्म-कर्तव्य से शून्य होता जा रहा है। जीवन में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। विनय एवं नम्रता के स्थान में अहंकार जागृत हो रहा है। आज वह पुरानी आदर्श पद्धति कहाँ है, कि गुरु के आते ही खड़ा हो जाना, सामने जाना, आसन अर्पण करना, और कुशल क्षेम पूछना। गुरु का विनय करने से तथा गुरु की सेवा करने से शास्त्र के गम्भीर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

शिष्य का गुरु के प्रति क्या कर्तव्य है? गुरु को वन्दन कैसे किया जाता है? कैसे उन की सुख शान्ति पूछी जाती है। यही वर्णन प्रस्तुत पाठ में किया गया है।

श्रावक की परिभाषा

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनम्,
दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृन्तत्य पुण्यानि करोति संयमं;
तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

'श्रावक' शब्द में तीन अक्षर हैं—'श्रा', 'व' तथा 'क'।

जो श्रद्धा-शील है, जो यथाशक्ति दान करता है, जो पाप का क्षय करता है, और जो संयम की साधना में संलग्न है—वस्तुतः वही सच्चा श्रावक है।

श्रावक प्रतिक्रमण-सूत्र

श्रावक-सूत्र

प्रतिक्रमण

जं दुक्कडं ति मिच्छा,
तं भुज्जो कारणं अपूरंतो ।
तिविहेणं पडिक्कंतो ;
तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥

जो साधक त्रिविध योग से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के लिए मिच्छा मि दुक्कडं दे देता है, फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है—वस्तुतः उसीका दुष्कृत मिथ्या अर्थात् निष्फल होता है ।

मंगल-सूत्र

मूल : चत्तारि मंगलं—

अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा—

अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि —

अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

अर्थ : संसार में चार मंगल हैं —

अरिहंत, सिद्ध, साधु और जिन-भाषित धर्म ।

संसार में चार उत्तम हैं —

अरिहंत, सिद्ध, साधु और जिन-भाषित धर्म ।

संसार में चार शरण रूप हैं —

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और जिन-भाषित धर्म ।

व्याख्या :

मङ्गल की अभिलाषा किस को नहीं है। संसार का प्रत्येक प्राणी मङ्गल चाहता है। संसार में सर्व श्रेष्ठ मङ्गल चार ही हैं, ये कभी भी अमङ्गल नहीं होते। ये सदा मङ्गल रूप हैं।

संसार में उत्तम क्या है? धन, जन, तन? कभी नहीं। ये सब नश्वर तत्त्व हैं। आज हैं, कल नहीं। अतः ये सब श्रेष्ठ (उत्तम) नहीं हो सकते। उत्तम चार ही हैं, ये कभी अनुत्तम नहीं होते।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे मनुष्य को शरण नहीं दे सकते। धन, जन, राज्य एवं वैभव—ये सब मिथ्या हैं, क्षणिक हैं। फिर शरण क्या देंगे? सच्चे शरण चार हैं, जो कभी अशरण रूप नहीं होते।

: २४ :

सम्यक्त्व-सूत्र

मूल :　　अरिहंतो मह देवो,
　　　　जावज्जीवं सु-साहुणो गुरुणो।
　　जिण-पण्णत्तं तत्तं;
　　　　इय सम्मत्तं मए गहियं॥

एयस्स सम्मत्तस्स समणोवासएणं पंच अइ-यारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—संका, कंखा, वितिगिच्छा, पर-पासंड-पसंसा, पर-पासंड-संथवो।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : अरिहंत मेरे देव हैं, जीवन पर्यन्त शुद्ध साधु मेरे गुरु हैं, जिन-भाषित तत्त्व मेरा धर्म है। इस सम्यक्त्व को मैंने ग्रहण किया है।

इस सम्यक्त्व के श्रमणोपासक को पांच अतिचार प्रधान रूप से जानने योग्य हैं, किन्तु आचरण के योग्य नहीं हैं।

जैसे कि—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाखण्ड-प्रशंसा, पर-पाखण्ड संस्तव।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किया हो, उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

प्रस्तुत पाठ में सम्यक्त्व का स्वरूप बताया गया है, और उस के पांच अतिचार भी बताए गए हैं।

जब तक सम्यक्त्व की संशुद्धि नही हो जाती, तब तक व्रतों की आराधना एवं पालना भी सम्यक् रूप से नहीं हो सकती। 'दंसण-मूलो धम्मो' धर्म का मूल सम्यक्त्व है। अतः बारह व्रतों के स्वरूप से पूर्व दर्शन का स्वरूप बताया गया है। बारह व्रत भी दर्शन मूलक ही होते है।

: २५ :

प्रथम अहिंसा अणुव्रत

मूल : पढमं अणुव्वयं थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं। तस-जीवे बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-जीवे संकप्पओ हणण-हणावण-पच्चक्खाणं। स-सरीरं स-विसेस पीडाकारिणो,

स-सम्बन्धि स-विसेस पीडाकारिणो वा वज्जिऊण, जावज्जीवाए, दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा ।

एयस्स थूलग-पाणाइवाय-वेरमणस्स [1]समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा ।

तं जहा-बन्धे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्त-पाण-विच्छेए ।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अर्थ : प्रथम अणुव्रत है—स्थूल प्राणातिपात से (जीव हिंसा से) विरत होना, अलग होना । त्रस जीव-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीवों को, संकल्प-पूर्वक, मारने मरवाने का प्रत्याख्यान (त्याग) है ।

स्व-शरीर को विशेप पीड़ा देने वाले को, तथा स्व-परिजन के शरीर को विशेप पीडा देने वाले को छोड़ कर, जीवन पर्यन्त, दो करण तीन योग से—(स्थूल हिंसा) न करूँ, न करवाऊँ, मन से, वचन से, काय से ।

इस स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के श्रमणोपासक को (श्रमणोपासिका को) पाँच अतिचार प्रधान (मुख्य) जानने योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं ।

१. श्राविका (समणोवासियाए) पाठ याद करें ।

जैसे—बन्ध=बाँधना, वध=मारना, छविच्छेद=चमड़ी का छेदन, अतिभार=अधिक भार लादना, भक्त-पान विच्छेद=खाने-पीने में अन्तराय डालना।
जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

विचार :

वस्तु-तत्त्व को समझने के लिए विचार की, ज्ञान की आवश्यकता है। संसार के सब क्लेश एक मात्र आत्मा के अज्ञान पर ही आधारित हैं। अज्ञान को दूर करने का साधन, आत्म ज्ञान के सिवा, अन्य क्या हो सकता है? आत्मा का स्वरूप क्या है? कर्म क्या है? बन्धन क्या है? कर्म आत्मा के क्यों लगते हैं? आदि प्रश्नों का सुन्दर समाधान सम्यग् ज्ञान है। जब तक Right Knowledge न हो, तब तक आत्मा भव-बन्धनों से विमुक्त नहीं हो सकता।

आचार :

विचार का फल, ज्ञान का फल है—आचार अर्थात् विरति। ज्ञान होने पर भी यदि विषयों से विरक्ति नहीं आए, तो समझना चाहिए वह ज्ञान ही कैसा? सूर्योदय हो जाने पर भी अन्धकार बना रहे, यह कैसे? विचार जब क्रिया का रूप लेता है, तब उसको आचार कहा जाता है। आचार, आचरण, विरति और चारित्र—ये सब पर्याय वाचक शब्द हैं। साधक जीवन में जब तक Right Conduct न हो, तब तक ज्ञान पाना भी सार्थक नहीं होता। अतः शास्त्रकार कहते हैं—'ज्ञानस्य फलं विरतिः।'

आचार—विरति के भेद :

विरति के दो भेद हैं—देश-विरति और सर्व-विरति। देश-विरति को अणुव्रत और सर्व-विरति को महाव्रत कहते हैं। देश विरति को

शास्त्र में 'श्रावक धर्म' और सर्व-विरति को 'श्रमण-धर्म' भी कहा गया है। श्रावक के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं। श्रावक द्वादशव्रती होता है, और श्रमण पञ्च महाव्रती होता है। चारित्र रूप धर्म के ये दो भेद पात्र अर्थात् अधिकारी की न्यूनाधिक योग्यता के आधार पर किए गए हैं, वैसे धर्म तो अपने आप में एक अखण्ड तत्त्व होता है।

अहिंसा :

प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन प्रिय है। सब अपने जीवन की सुरक्षा चाहते हैं। परन्तु यह सुरक्षा बिना अहिंसा के कैसे हो सकेगी ? अतः अहिंसा आध्यात्मिक जीवन की नींव है। व्रतों में यह सब से पहला व्रत है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को, भगवती' कहा है। सब धर्मों में यह श्रेष्ठ धर्म है। अहिंसा का मार्ग खांडे की धार पर चलने जैसा है। अहिंसा से शान्ति प्राप्त होती है। क्या हिंसा से भी कभी शान्ति मिल सकती है ? Nothing good ever comes of violence. हिंसा में से कभी अच्छा परिणाम नहीं आया है और जिसमें से अच्छा परिणाम न आए, वह धर्म कैसे हो सकता है ? क्रूर व्यक्ति अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अहिंसा के पालन के लिए हृदय की कोमलता विशेष रूप में अपेक्षित है। Paradise is open to all kind hearts. स्वर्ग के द्वार दया शील व्यक्तियों के लिए सदा खुले रहते हैं। अहिंसा में अपार शक्ति है।

प्रथम अणुव्रत :

स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) से विरत हो जाना, पहला अणुव्रत है। यहाँ पर स्थूल शब्द से द्वीन्द्रिय जीव से पञ्चेन्द्रिय जीव तक ग्रहण किए गए हैं। किसी जीव के प्राणों का अतिपात (विनाश) प्राणातिपात कहा जाता है। प्राणातिपात दो प्रकार का होता है—संकल्पज और आरम्भज। संकल्प से अर्थात् जान-बूझ कर द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों को मांस,

अस्थि, चर्म, नख, केश, दांत आदि के लिए या वैर-पूर्ति के लिए मारना, यह संकल्पज प्राणातिपात है। आरम्भ से पैदा होने वाले प्राणातिपात को आरम्भज कहते हैं—जैसे, भूमि खोदने, घर बनाने, व्यापार करने आदि के रूप में। प्रथम व्रत की साधना करने वाला श्रावक, उक्त दोनों हिंसा में से जान बूझ कर निरपराध प्राणियों की संकल्पज हिंसा का तो, जीवन भर के लिए त्याग कर देता है। परन्तु आरम्भज हिंसा को श्रावक पूर्ण रूप में नहीं छोड़ सकता। क्योंकि गृहस्थ जीवन में स्थावर (पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और वनस्पतिकाय) की हिंसा से पूर्ण रूप में बचा नहीं जा सकता। अतः स्थावर-हिंसा की वह अपनी परिस्थिति के अनुसार उचित मर्यादा कर सकता है।

अतिचार :

प्रथम अणुव्रत के पांच अतिचार हैं। अतिचार व्रत का दूषण है। अतः वह जानने योग्य तो है, पर आचरण करने योग्य नही होता। अतः उसका आचरण नहीं करना चाहिए। अतिचार का सेवन करने से गृहीत व्रत दूषित हो जाता है। अहिंसा अणुव्रत का पालन करने वाले श्रावकों को निम्न लिखित दोषों से बचना चाहिए।

बन्ध :

रज्जु आदि से किसी प्राणी को बाँधना, बन्ध कहलाता है। बन्ध के दो भेद होते हैं—द्विपद-बन्ध और चतुष्पद-बन्ध। दास-दासी आदि का बन्ध, तोता मैना आदि का बन्ध, द्विपद-बन्ध है। गाय, भैंस और घोड़ा आदि का बन्ध, चतुष्पद बन्ध है। उक्त बन्ध दो कारणों से होता है—प्रयोजन के लिए, अर्थ के लिए। और बिना प्रयोजन के (अनर्थ के लिए)। बिना प्रयोजन के, बिना मतलब के श्रावक किसी को बाँधता नहीं है, क्योंकि वह अनाचार हो जाएगा। अर्थ (प्रयोजन) बन्ध के भी दो भेद हैं—निरपेक्ष और सापेक्ष। दया-शून्य कठोर बन्ध को, गाढ़ बन्ध को

निरपेक्ष बन्ध कहते हैं। यह अतिचार है। इस प्रकार का बन्ध भी श्रावक का धर्म नहीं। दूसरा सापेक्ष बन्ध है। प्रयोजन आने पर जो कोमल-भाव से बन्ध किया जाता है, उसको सापेक्ष बन्ध कहते हैं। दास-दासी और पशु आदि को, यदि वे उद्दण्डता आदि करते हों, तो उन को सुधारने के लिए जो अन्दर में कोमल-भाव रखते हुए बाहर में मर्यादित कठोर बन्धन किया जाता है, उसको सापेक्ष बन्ध कहते हैं।

वध :

वध का अर्थ है, ताड़ना, पीटना और मारना। प्राणों का अपहरण किए बिना मनुष्य, पशु एवं पक्षी आदि का जो दण्ड आदि साधनों से ताड़न किया जाता है, वह वध है। इसके भी दो भेद हैं—अर्थ के लिए, और अनर्थ के लिए। उसके फिर दो भेद हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। अपराधी या उद्दण्ड आदि व्यक्ति को दण्ड देने के लिए, कोमल-भाव से—सुधारने की भावना से, जो ताड़न किया जाता है, वह अतिचार रूप नहीं होता। अतिचार की सीमा निरपेक्षता में है, सापेक्षता में नहीं।

छविच्छेद :

छवि (त्वचा) आदि का छेदन करना। इस के भी दो भेद हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। करुणा-रहित होकर किसी की त्वचा (चमड़ी) आदि का छेदना, काटना, निरपेक्ष छविच्छेदन है। और करुणा रखते हुए किसी रोगी की चीर-फाड़ करना, सापेक्ष छविच्छेद कहा जाता है।

अतिभार :

किसी मनुष्य अथवा किसी पशु पर शक्ति से अधिक भार लादना, अतिभार नामक अतिचार है। श्रावक को गाड़ी आदि से अपनी आजीविका नहीं चलानी चाहिए। यदि कभी प्रयोजन वश चलानी ही पड़े, तो सापेक्ष और निरपेक्ष का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। मनुष्य, पशु आदि पर इतना भार नहीं लादना चाहिए, जिस से उनको अतिपीडा हो, और उनके अंग-भंग हो जाने की सम्भावना हो।

भक्त-पान विच्छेद :

भक्त (भोजन) और पान (पानी)। इन के विच्छेद (अन्तराय) को भक्त-पान विच्छेद कहते हैं। इस के भी दो भेद हैं— सापेक्ष और निरपेक्ष। श्रावक का यह कर्तव्य है, कि अपने आश्रित मनुष्य एवं पशु आदि के भोजन-पान का यथावसर पूरा ध्यान रखे। निरपेक्ष होकर किसी के भक्त-पान में अन्तराय नहीं डालनी चाहिए। हाँ, रोगादि कारण से भक्त-पान न देना, हो तो वह सापेक्ष है, सप्रयोजन है। अतः उसकी गणना अतिचार में नहीं की जाती।

: २६ :

द्वितीय सत्य अणुव्रत

मूल : बीयं अणुव्वयं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं। से मुसावाए पंचविहे पन्नत्ते।

तंजहा—कन्नालीए, गवालीए, भोमालीए, नासावहारे, (थापण मोसे), कूड-सक्खिज्जे। इच्चेवमाइयस्स थूल-मुसावायस्स पच्चक्खाणं। जावज्जीवाए, दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।

एयस्स बीयस्स थूलग-मुसावाय-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइया। जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

तं जहा-सहसाऽब्भक्खाणे, रहस्सऽब्भक्खाणे,

[1]सदारमन्त-भेए, मोसोवएसे, कूडलेह-करणे। जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : द्वितीय अणुव्रत है--स्थूल मृषावाद (झूठ) से विरत होना - अलग होना। और, वह मृषावाद पांच प्रकार का कहा गया है।

जैसे—कन्या-सम्बन्धी झूठ, गाय-सम्बन्धी झूठ, भूमि-सम्बन्धी झूठ, धरोहर-सम्बन्धी झूठ, झूठी साक्षी-(गवाही सम्बन्धी झूठ)। इत्यादि स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान (त्याग) जीवन-पर्यन्त, दो करण तीन योग से—न बोलूँ, न बुलाऊँ, मन से, वचन से, काय से। इस द्वितीय स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के श्रमणोपासक को (श्रमणोपासिका को) पांच अतिचार जानने के योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं।

जैसे—सहसाभ्याख्यान = बिना सोचे-विचारे किसी को कलंक लगाना, रहस्याभ्याख्यान = रहस्य की (गुप्त) बातों को प्रकट करना, स्वदारा-मन्त्र-भेद = स्वपत्नी के मन्त्र (गुप्त मर्म) को प्रकट करना, मृषोपदेश = मिथ्या उपदेश करना, कूट-लेख=करण=झूठा लेख लिखना।

जो मैं ने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

---

१. श्राविका (सभत्तार-मंत भेए) पाठ याद करें।

व्याख्या :

सत्य :

सत्य परम धर्म है। सत्य से बढ़ कर अन्य दूसरा कोई धर्म नहीं है। भगवान् महावीर ने सत्य को 'भगवान्' कहा है। 'तं सच्चं खु भगवं।' अर्थात् सत्य ही भगवान् है। सत्य में स्थिर रहने वाला व्यक्ति मृत्यु को भी जीत लेता है। सत्य चिन्तन, सत्य भाषण और सत्य आचरण से जीवन पवित्र बन जाता है। There is nothing so delight ful as the hearing or the speaking of the truth. इस विराट विश्व में सत्य वचन सुनने और सत्य वचन बोलने से अधिक मधुर आनन्द कुछ भी नहीं है। सत्य, लोक का सार है।

द्वितीय अणुव्रत :

स्थूल मृषावाद (असत्य) से विरत हो जाना, अलग हो जाना, द्वितीय अणुव्रत है। सत्य धर्म है, और असत्य पाप है। असत्य के पांच भेद हैं। अथवा जिन कारणों से मनुष्य असत्य बोलता है, वे असत्य के कारण पांच हैं, जो ये हैं—

कन्यालीक :

कन्या के लिए अलीक (असत्य) बोलना, कन्यालीक है। यहाँ कन्या के विषय में जो झूठ बोलने का निषेध है, वह समस्त मनुष्य जाति के विषय में झूठ बोलने का निषेध समझना चाहिए।

गुण-सम्पन्न कन्या या वर को गुण-हीन कहना, और गुण-हीन को गुण-सम्पन्न कहना, कन्या-सम्बन्धी असत्य है।

गवालीक :

गाय के विषय में अलीक (असत्य) कहना। गाय से यहाँ पर अन्य पशुओं का भी ग्रहण हो जाता है। अच्छी गाय को बुरी और बुरी को अच्छी कहना।

भूमि-अलीक :

भूमि के लिए अलीक बोलना, असत्य बोलना। भूमि से अन्य अचित्त वस्तुओं का भी ग्रहण कर लिया जाता है। सोना-चांदी आदि के विषय में भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।

न्यासापहार :

किसी की धरोहर रखी वस्तु के लिए इन्कार कर देना। धरोहर को न लौटाना। इसको न्यास (रखी हुई) वस्तु का अपहरण (चुराना) कहते हैं।

कूट-साक्ष्य :

अपने लाभ के लिए और दूसरे की हानि के लिए, जो न्यायाधीश अथवा पंच के सम्मुख झूठी गवाही दी जाती है, उसको कूट-साक्ष्य, कूट साक्षी कहते हैं।

अतिचार :

प्रथम अणुव्रत की भांति इसके भी पांच अतिचार हैं। व्रत के चार दूषण होते हैं—अतिक्रम–गृहीत व्रत को तोड़ने का मन में संकल्प करना, व्यतिक्रम–व्रत को भङ्ग करने के लिए साधन जुटाना, अतिचार–व्रत तोड़ने की तैयारी, पर अभी तक तोड़ा नहीं, अनाचार–स्वीकृत मर्यादा का सर्वथा लोप कर देना। द्वितीय अणुव्रत के पांच अतिचार हैं, जो जानने योग्य हैं, (परन्तु) आचरण करने योग्य नहीं हैं।

सहसाभ्याख्यान[1] :

सहसा (बिना विचारे) अभ्याख्यान किसी के सम्बन्ध में कुछ-का-कुछ कह देना, मिथ्या दोष का लगाना, झूठा कलंक देना।

---

१. विचार किये बिना ही आवेश में आकर झट किसी पर मिथ्या आरोप लगा देना सहसाभ्याख्यान है। जैसे—'तू चोर है, जारपुत्र है…………!'

—पूज्य घासीलालजी म० कृत उपासक-दशांग टीका पृ० २८९

सहसा (बिना विचारे) बोला हो।

—कांन्फरेन्स द्वारा प्रकाशित प्रतिक्रमण-सूत्र पृ० २४।

रहस्याभ्याख्यान :

किन्हीं दो व्यक्तियों को रहसि (एकान्त स्थान) में बात-चीत करते देख कर कहना, कि "ये राज्य-विरुद्ध आदि मन्त्रणा कर रहे थे।' किसी पर व्यर्थ का सन्देह करना।

स्व-दारा मन्त्र भेद :

स्वदारा (अपनी पत्नी) की मन्त्र (मर्म भरी बात) को भेद (प्रकट) करना। इसी प्रकार पत्नी के लिए स्व-पति-मन्त्र भेद भी त्याज्य है।

मृपोपदेश :

मृपा (असत्य पूर्ण) झूठा उपदेश (शिक्षा) करना। जैसे 'यज्ञ करो, तुम्हें स्वर्ग मिलेगा' आदि कहना। झूठे उपदेश मे भोला मनुष्य गलत रास्ते पर लगता है।

कूट-लेख करण :

कूट (असत्य भूत) झूठा, लेख (हस्ताक्षर वा मुद्रांकन) जाली दस्तख़्त करना। बनावटी हस्ताक्षर करना, नकली मुहर बनाना आदि कूट लेख करण है।

: २७ :

तृतीय अस्तेय अणुव्रत

मूल : तइयं अणुव्वयं थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं। से य अदिण्णादाणे पंचविहे पन्नत्ते। तंजहा-खत्त-खणणं, गंठि-भेअणं, जंतुग्घाडणं, पडियवत्थुहरणं, ससामिअवत्थुहरणं। इच्चेव-माइयस्स थूल-अदिण्णादाणस्स पच्चक्खाणं। जावज्जीवाए, दुविहं तिविहेणं, न करेमि,

न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।
एयस्स तइयस्स थूलग अदिण्णादाण-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

तंजहा-तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्ध-रज्जाइ-क्कमे, कूड-तुल्ल-कूडमाणे, तप्पडिरूवग-ववहारे।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : तृतीय अणुव्रत है—स्थूल अदत्तादान (चोरी) से विरत होना। वह अदत्तादान (चोरी) पांच प्रकार का कहा गया है।

वह इस प्रकार से है—खात खनना—दीवार आदि में सेंध लगाना, गांठ खोलना, ताला तोड़ना, पड़ी हुई वस्तु को लेना, दूसरे की वस्तु को लेना। इत्यादिक स्थूल अदत्तादान (चोरी) का प्रत्याख्यान (त्याग) करना। जीवन पर्यन्त, दो करण तीन योग से, न करूँ, न करवाऊँ, मन से, वचन से, काय से। इस तृतीय स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने योग्य हैं, (किन्तु) आचरण करने योग्य नहीं हैं।

जैसे कि—स्तेन (चोर) द्वारा आहृत (चुराई हुई) वस्तु ली हो, तस्कर (चोर) को प्रयोग (प्रेरणा) दी

हो, सहायता दी हो, विरुद्ध (विरोधी) राज्य में अति-
क्रम (व्यापार आदि निमित्त) प्रवेश किया हो, कूट
(झूठा) तोल कूट (झूठा) पाप किया हो, वस्तु में
तत्प्रतिरूपक (तत्-सदृश) वस्तु का व्यवहार (मेल
संमेल) किया हो।

जो मैं ने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उन
का पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

अस्तेय :

दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित रूप में अधिकार करना चोरी है। मनुष्य को अपनी आवश्यकता, अपने श्रम के द्वारा प्राप्त साधनों से ही पूर्ण करनी चाहिए। यदि किसी अवसर पर दूसरे की किसी वस्तु को लेना भी हो, तो विना उसकी अनुमति के लेना नही चाहिए। विना उसकी आज्ञा के अथवा बल-प्रयोग से लेना स्तेय है, चोरी है। गृहस्थ जीवन में साधक पूर्ण रूप से चोरी का त्याग नहीं कर सकता, तो कम से कम सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित चोरी का त्याग तो करना ही चाहिए। जीवन को अधिक से अधिक प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य को अपने क्षणिक लाभ एवं स्वार्थ के लिए अपने धर्म को कभी नहीं भूलना चाहिए। Dishonesty is a for saking of permanent for temporary advantages. अप्रामाणिक होना अथवा चोरी करना, यह क्षणिक लाभ के लिए शाश्वत श्रेय को नष्ट करना है।

तृतीय अणुव्रत :

तृतीय अणुव्रत है—स्थूल अदत्तादान चोरी) से विरत होना। दत्त का आदान धर्म है, और अदत्त का आदान अधर्म। चोरी पांच प्रकार से की जाती है। जैसे कि—सेंध लगाना, गांठ खोलना, किसी का

ताला तोड़ना, किसी की पड़ी हुई वस्तु को ले लेना तथा दूसरे की वस्तु को बिना अनुमति के उठा लेना।

अतिचार :

इस तृतीय अणुव्रत के भी पांच अतिचार हैं। इसके चार दूषण भी हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। व्रत का एक देश से खण्डित होना अतिचार और सर्व देश से भंग होना अनाचार है। प्रस्तुत अणुव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार से हैं, जो श्रमणोपासक को जानने के योग्य तो हैं, (परन्तु) आचरण के योग्य नहीं है।

स्तेनाहृत :

चोर-द्वारा चुराई वस्तु को लेना, स्तेन आहृत है। चोरी की वस्तु सदा सस्ती बेची जाती है, जिससे लेने वाले को लोभ आ जाता है। चोर की चुराई वस्तु को लेना अतिचार है।

तस्कर-प्रयोग :

चोर को चोरी करने की प्रेरणा देना, तस्कर प्रयोग है। चोरी करने वाले के समान चोरी कराने वाला भी पाप का भागी है। चोर को चोरी करने में सहायता देना भी तस्कर प्रयोग है।

विरुद्ध-राज्यातिक्रम :

जो राजा या देश परस्पर विरोध रखते हैं, लड़ते हैं, उन राज्यों को विरुद्ध-राज्य कहते हैं। विरुद्ध राज्य में जाने-आने को विरुद्ध राज्य का अतिक्रम, उलंघन कहते हैं। अथवा विरुद्ध राज्य में व्यापार आदि के लिए चोरी से प्रवेश करना।

कूट-तोल कूट-मान :

कम तोलना और कम नापना, कूट-तोल एवं कूट-मान है। किसी से कोई वस्तु लेते समय अधिक तोलना, अधिक नापना और देते समय कम तोलना और कम नापना। लेने-देने के नाप-तोल अलग-अलग रखना भी पाप है।

प्रतिरूपक व्यवहार :

वस्तुओं में मेल-संमेल करना, मिलावट करना, प्रतिरूपक व्यवहार है, इस को तत्प्रतिरूपक व्यवहार भी कहते हैं। अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिला देना, अच्छी दिखाकर बुरी देना, यह सब तत्प्रतिरूपक व्यवहार है।

: २८ :

चतुर्थ ब्रह्मचर्य अणुव्रत

मूल : चउत्थं अणुव्वयं थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं। [1]सदार-संतोसिए अवसेस-मेहुण-विहि-पच्चक्खाणं।

जावज्जीवाए, दिव्वं दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा। माणुस्सं तिरिक्ख-जोणियं, एगविहं एगविहेणं, न करेमि, कायसा।

एयस्स चउत्थस्स थूलग-मेहुण-वेरमणस्स, समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

तंजहा–इत्तरिय - परिग्गहियागमणे, अपरिग्गहिया-गमणे, अणंग-कीडा, पर-विवाह-करणे, काम-भोग-तिव्वाभिलासे।

---

१. श्राविका 'सभत्तार संतोसिए' पढ़ें।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अर्थ : चतुर्थ अणुव्रत है—स्थूल मैथुन (संभोग) से विरत होना । स्व-पत्नी में संतोष रख कर, (स्त्री स्व-पति में सन्तोष रख कर) अन्य सब प्रकार की मैथुन विधि (अब्रह्मचर्य) का प्रत्याख्यान (त्याग) करना ।

जीवन पर्यन्त देवता-सम्बन्धी, दो करण तीन योग से, न करूँ, न कराऊँ, मन से, वचन से, काय से । मनुष्य तथा तिर्यञ्च-सम्बन्धी, एक करण एक योग से, न करूँ, काय से ।

इस चतुर्थ स्थूल मैथुन विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं ।

जैसे कि—इत्वरिक (अल्प कालिक) परिगृहीता (रखैल स्त्री) से गमन (व्यभिचार) करना, अपरिगृहीता (वेश्या आदि) से गमन (व्यभिचार) करना, अनंग (अप्राकृतिक रीति) से क्रीडा (काम चेष्टा) करना, पर (दूसरे के लड़के लड़की) का अथवा पर (स्वयं अपना ही दूसरा) विवाह करना, काम-भोग की तीव्र अभिलाषा करना ।

जो मैं ने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

व्याख्या :

ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य सब तपों में सब से बड़ा तप है। ब्रह्मचर्य, शील और सदाचार जीवन विकास के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचर्य व्रत सदाचार के लिए है, और सदाचार ही जीवन की आधार-शिला है। मनुष्य के पास विद्वत्ता हो या न हो, उसके पास लक्ष्मी हो या न हो, परन्तु उसके पास सदाचार अवश्य होना चाहिए। Not education but character is man's greatest need and man's greatest safe guard. शिक्षण नहीं, पर चारित्र ही मनुष्य की सब से बड़ी आवश्यकता है, और सदाचार से ही मनुष्य की रक्षा होती है। काम-वासना से मनुष्य के अध्यात्म-जीवन का विनाश हो जाता है। अतः वासना पर संयम रखने के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। गृहस्थ जीवन में पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन शक्य नहीं है। अत: उसे स्व-दार सन्तोष व्रत और स्त्री को स्व पति सन्तोष व्रत का पालन करना चाहिए।

चतुर्थ अणुव्रत :

चतुर्थ व्रत है—स्थूल मैथुन (संभोग) से विरत होना। स्व पत्नी में सन्तोष रख कर, स्त्री स्व-पति में सन्तोष रख कर अन्य सब प्रकार के मैथुनों का त्याग करना। स्वदार सन्तोष व्रत की साधना करने वाले गृहस्थ की वासना सीमित हो जाती है, जिस से वह असीम कामेच्छा से बच जाता है। उक्त व्रत के पालन करने से दाम्पत्य-मर्यादा भी सुरक्षित होती है। पति एवं पत्नी में परस्पर विश्वास पैदा होता है।

प्रस्तुत व्रत के भी चार दूषण हैं-- अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। अनाचार में व्रत भङ्ग हो जाता है, अतिचार में व्रत देशतः खण्डित होता है।

अतिचार :

ब्रह्मचर्य व्रत के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने योग्य तो हैं, (परन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार से हैं—

इत्वरिक परिगृहीतागमन :

कुछ समय के लिए पैसा देकर रखैल स्त्री को पत्नी के रूप में रखना, और उसके साथ गमन करना। स्त्री भी रखैल पति रख लेती हैं, जैसे आजकल पश्चिम के देशों में है। उक्त व्रत की साधना करने वाले को ऐसा करना उचित नहीं है।

अपरिगृहीता गमन[1] :

जो विवाहित न हो, ऐसी वेश्या तथा विधवा, परित्यक्ता आदि स्त्री के साथ काम-भोग का सेवन करना। स्त्री का विधुर आदि के साथ सबन्ध रखना। यह भी व्रत की सीमा से बाहर है। अतः त्याज्य है।

अनङ्ग-क्रीडा :

अप्राकृतिक रीति से काम चेष्टा करना। काम सेवन के लिए जो प्राकृतिक अंग हैं, उनके अतिरिक्त शेष समस्त अंग, काम-सेवन के लिए अनङ्ग हैं। उन से काम क्रीडा करना अनङ्ग-क्रीडा है।

पर-विवाह करण :

दूसरे के लड़के लड़कियों का विवाह करना। कर्तव्य-वश अपने कुटुम्बी जनों के लड़के लड़कियों का विवाह करना पड़े, तो वह अतिचार में नहीं होगा। परन्तु किसी लोभ-वश दूसरों के विवाह का जोड़-तोड़

---

१. वेश्या, विधवा या परित्यक्ता............!

—'गृहस्थ-धर्म' में पूज्य जवाहरलालजी म०
भाग २, पृ० २१६

पाणि-ग्रहण की हुई पत्नी से भिन्न वेश्या, कन्या, विधवा........!

—'उपासक दशांग' में पूज्य घासीलालजी म०
पृ० २६८ ।

लगाया जाए, तो वह अतिचार है। कुछ विचारक पर-विवाह का एक अर्थ यह भी करते हैं, कि अपना स्वयं का दूसरा विवाह न करना।

तीव्र-काम-भोगाभिलाषा :

कामाभिलाषा को मन्द करना चाहिए, क्षीण करना चाहिए। तीव्र कामाभिलाषा से व्रत भंग होने की सम्भावना रहती है। अत: वासना पर संयम रखने का प्रयत्न करना चाहिए। स्वदार-सन्तोष व्रत का उद्देश्य भी यही है, कि भोगाभिलाषा मन्द हो।

: २९ :

पञ्चम अपरिग्रह अणुव्रत

मूल : पंचमं अणुव्वयं थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं। खेत्त-वत्थूणं जहापरिमाणं, हिरण्ण-सुवण्णाणं जहापरिमाणं, धण-धन्नाणं जहापरिमाणं, दुप्पय-चउप्पयाणं जहापरिमाणं, कुप्पस्स[1] जहापरिमाणं। एवं मए जहा परिमाणं कयं, तओ अइरित्तस्स परिग्गहस्स पच्चक्खाणं। जावज्जीवाए, एगविहं तिविहेणं, न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा।

एयस्स पंचमस्स थूलग-परिग्गह-परिमाण व्वयस्स समणो वासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

---

१. 'कुवियस्स' भी पाठ है।

तंजहा—खेत्त-वत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्ण-सुवण्णप्पमाणाइक्कमे, धण-धन्नप्पमाणाइक्कमे, दुप्पय - चउप्पयप्पमाणाइक्कमे, कुप्पप्पमाणाइक्कमे ।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अर्थ : पञ्चम अणुव्रत है—स्थूल परिग्रह से विरत होना । क्षेत्र-वास्तु (खेत और घर आदि) का यथा परिमाण, (जो परिमाण किया है), हिरण्य (चांदी) सुवर्ण (सोना) का यथापरिमाण, धन-धान्य का यथापरिमाण, द्विपद (दास-दासी आदि का और चतुष्पद (गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशु) का यथा परिमाण, कुप्य (बरतन आदि) का अथवा घर की सामग्री का यथा परिमाण । इस प्रकार मैं ने जो परिमाण (मर्यादा) किया है, उसके अतिरिक्त परिग्रह रखने का प्रत्याख्यान (त्याग) करना ।

जीवन पर्यन्त, एक करण तीन योग से, न करूँ, मन से, वचन से, काय से ।

इस पञ्चम स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं ।

जैसे कि—क्षेत्र (खेत आदि) और वास्तु (घर आदि) के प्रमाण का अतिक्रमण करना, हिरण्य(चांदी) और सुवर्ण (सोना) के प्रमाण का अतिक्रमण करना, धन-धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण करना, द्विपद (दास-दासी)

के और चतुष्पद (गाय, भैंस, घोड़ा आदि) के प्रमाण का अतिक्रमण करना, कुप्य (वर्तन आदि घर की सामग्री) के प्रमाण का अतिक्रमण करना ।

जो मैं ने दिवस संवन्धी अतिचार किया हो, तो उस का पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

अपरिग्रह :

परिग्रह सब पापों की जड़ है। भव-बन्धन का मुख्य कारण है। जब तक परिग्रह पर नियन्त्रण नही रखा जायगा, तब तक दूसरे पाप भी कम नहीं होंगे। संग्रह-वृत्ति और पूंजीवादी मनोवृत्ति ही संसार में अशान्ति पैदा करती है। मनुष्य सोचता है कि धन, सम्पत्ति और सुख-भोग के साधनों का संग्रह कर के मैं सुखी रहूँगा। परन्तु यह कोरी मिथ्या कल्पना है। 'वित्तेण ताणं न लभे।' धन-वैभव से जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। 'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्।' धन सचमुच अनर्थ ही है। Our incomes are like shoes. If too small, they gall and pitch us. If too large they make as to stumble and to trip. गृहस्थ की आय उस के जूते के के समान है। जूते अगर छोटे होते हैं तो वे पैरों में छाले डाल देते है, और वड़े होते हैं, तो वे मनुष्य को गिरा देते हैं। इसी प्रकार धन की कमी गृहस्थ को परेशान करती है, और धन की अधिकता उस को विलासी वनाती है। अतः परिग्रह एक वहुत वड़ा पाप है, सव पापों का जनक है।

पञ्चम अणुव्रत :

पञ्चम अणुव्रत है—स्थूल परिग्रह से विरत होना। गृहस्थ जीवन में परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता। परिग्रह का परिमाण

किया जा सकता है। परिग्रह के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह के दो भेद हैं—जड़ और चेतन। जड़ में वस्त्र, पात्र, सोना-चांदी, सिक्का, मकान एवं खेत आदि का समावेश हो जाता है, और चेतन में मनुष्य, पशु, पक्षी एवं वृक्ष आदि समस्त सजीव पदार्थों का ग्रहण हो जाता है।

उक्त व्रत के भी चार दोष हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। व्रत को तोड़ने का संकल्प अतिक्रम, तोड़ने की तैयारी व्यतिक्रम, व्रत को एक देश से खण्डित करना अतिचार और सर्वथा भंग करना अनाचार है।

आगे के सभी व्रतों में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार एवं अनाचार का यही क्रम और यही अर्थ समझ लेना चाहिए।

अतिचार :

इस पञ्चम स्थूल परिग्रह-परिमाण व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने योग्य तो हैं, किन्तु आचरण के योग्य नहीं हैं। वे अति-चार इस प्रकार हैं—

क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम :

खेत आदि की खुली भूमि और घर आदि की ढंकी भूमि के विषय में जो मर्यादा की गई थी, उसका पूर्णतः तो नहीं, पर अंश रूप में उलंघन करना। जैसे किसी व्यक्ति के पास पहले चार खेत की मर्यादा थी, फिर चार और मिलने पर बीच की मेड़ को तोड़ कर एक कर लेना और चार की संख्या बनाए रखना। इसी प्रकार घर की मर्यादा के सम्बन्ध में भी समझ लेना।

हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम :

चांदी-सोना अथवा चांदी-सोने की बनी चीजों के विषय में जो मर्यादा की गई थी, उसका अंश रूप में उलंघन करना। मर्यादा से बाहर मिली इन वस्तुओं को अपने पास रखना नहीं चाहिए।

धन-धान्य प्रमाणातिक्रम :

सम्पत्ति और अनाज के विषय में जो मर्यादा की गई थी, उसका अंश रूप में उलंघन करना। मर्यादा से बाहर धन-धान्य मिले, तो उसे रखना नहीं चाहिए।

द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम :

दास-दासी आदि मनुष्य और गाय, घोड़ा आदि पशु के विषय में जो मर्यादा की गई थी, उसका अंश रूप में उलंघन करना। प्रमाण से अधिक रखना।

कुप्य-प्रमाणातिक्रम :

'कुप्य' शब्द का अर्थ है—घर की सामग्री, अथवा पात्र आदि वस्तु। पात्र आदि घर की सामग्री के विषय में जो मर्यादा की गई थी, उसका अंश रूप में उलंघन करना। प्रमाण से अधिक वस्तुओं का संग्रह करके रखना। यह व्रत का दूषण है।

: ३० :

षष्ठ दिशा-व्रत

मूल : छट्ठं दिसिव्वयं उड्ढ-दिसाए जहापरिमाणं, अहो-दिसाए जहापरिमाणं, तिरिय-दिसाए जहापरिमाणं। एवं मए जहापरिमाणं कयं, तओ अइरित्तं सेच्छाए काएणं गंतूणं पंच आसवासेवणस्स पच्चक्खाणं।

जावज्जीवाए, दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।

एयस्स छट्ठस्स दिसिव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तंजहा-उड्ढ-दिसिप्पमाणाइक्कमे, अहो-दिसिप्पमाणाइक्कमे, तिरिय-दिसिप्पमाणाइक्कमे, खेत्त-वुड्ढी, सइ-अन्तरद्धा।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : षष्ठ दिशा व्रत है—ऊर्ध्व-दिशा (ऊंची) में यथापरिमाण, अधो दिशा (नीची) में यथा परिमाण, तिर्यग्-दिशा (तिरछी) में यथा परिमाण। इस प्रकार मैंने जो परिमाण किया है, उसके अतिरिक्त अपनी इच्छा से शरीर के द्वारा जाकर पांच आस्रव-सेवन का प्रत्याख्यान (त्याग) करना।

जीवन पर्यन्त, दो करण तीन योग से, न करूं, न कराऊँ, मन से, वचन से, काय से।

इस षष्ठ दिशाव्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने के योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं। जैसे कि—ऊर्ध्व दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण करना, अधो दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण करना, तिर्यग् दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण करना, क्षेत्र (स्थान) सम्बन्धी स्वीकृत मर्यादा की वृद्धि करना, नियम का स्मरण न रहने से मर्यादा में वृद्धि करना।

जो मैं ने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उस का पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

दिशा :

दिशा का अर्थ है—दिक्। दिशाएँ तीन हैं—ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा और तिर्यग् दिशा। अपने से ऊपर की ओर को ऊर्ध्व दिशा, नीचे की ओर को अधो दिशा, तथा दोनों के बीच की तिरछी दिशा को तिर्यक् दिशा कहते हैं। तिर्यक् दिशा के चार भेद हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। चार दिशाओं के चार कोणों को ईशान आदि चार विदिशा कहते हैं, ये भी तिर्यक् दिशा हैं। चार दिशा, चार विदिशा तथा ऊर्ध्व और अधः। इन सब को मिला कर दश दिशाएँ होती हैं।

षष्ठ दिशा-व्रत :

षष्ठ दिशा व्रत हैं—ऊँची, नीची और तिरछी दिशा का परिमाण करना। पापाचरण के लिए गमन-आगमन आदि क्षेत्र को विस्तृत करना श्रावक के लिए निषिद्ध है। राजा जिधर भी दिग् विजय को निकलते हैं, संहार मचा देते हैं। व्यापारी व्यापार को निकलते हैं, तो राष्ट्रों का शोषण कर लेते हैं। अतः भगवान् ने दिशा व्रत का विधान किया है, जिस में कार्य क्षेत्र की मर्यादा बांधी जाती है, जिस से जीवन संयमित होता है।

अतिचार :

षष्ठ दिशा व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने के योग्य हैं, किन्तु आचरण के योग्य नहीं। वे इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्व दिशा-परिमाणातिक्रम :

ऊर्ध्व दिशा में यातायात करने के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस क्षेत्र का भूल से उलंघन हो जाना।

अधो दिशा परिमाणातिक्रम :

नीची दिशा में जाने-आने के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस क्षेत्र का भूल से उलंघन हो जाना।

तिर्यग् दिशा-परिमाणातिक्रम :

तिरछी दिशा में जाने-आने के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस क्षेत्र का भूल से उलंघन हो जाना ।

क्षेत्र-वृद्धि :

एक दिशा की स्वीकृत मर्यादा में कमी कर के दूसरी में मिलाने को क्षेत्र की वृद्धि कहते हैं । यह व्रत का दूषण है ।

स्मृति-भ्रंश :

क्षेत्र की स्वीकृत मर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे बढ़ जाना । अथवा गृहीत मर्यादा का ही स्मरण न रहना ।

: ३१ :

सप्तम उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत

मूल : सत्तमे वए उवभोग-परिभोग-विहिं पच्चक्खायमाणे, उल्लणिया-विहिं, दंतवण-विहिं, फल-विहिं, अब्भंगण-विहिं, उव्वट्टण-विहिं, मज्जण-विहिं, वत्थ-विहिं, विलेवण-विहिं, पुप्फ-विहिं, आभरण-विहिं, धूवण-विहिं, पेज्ज-विहिं, भक्ख-विहिं, ओदण-विहिं, सूव-विहिं, विगय-विहिं, साग-विहिं, महुर-विहिं, जेमण-विहिं, पाणीय-विहिं, मुह-वास-विहिं, वाहण-विहिं, सयण-विहिं, उवाहण-विहिं, सचित्त-विहिं, दव्व-विहिं, करेमि ।

इच्चाईणं जहापरिमाणं कयं, तओ अइ-
रित्तस्स उवभोग-परिभोगस्स पच्चक्खाणं।
जावज्जीवाए, एगविहं तिविहेणं, न करेमि,
मणसा, वयसा, कायसा।
सत्तमे उवभोग-परिभोगव्वए दुविहे पन्नत्ते।
तंजहा—भोयणाओ, कम्मओ य। तत्थ णं
भोयणाओ समणोवासएणं, पंच अइयारा
जाणियव्वा, न समायरियव्वा।
तं जहा—सचित्ताहारे, सचित्त-पडिबद्धाहारे,
अप्प ओलि ओसहि-भक्खणया, दुप्प ओलि-
ओसहि-भक्खणया, तुच्छोसहि-भक्खणया।
जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा
मि दुक्कडं।

अर्थ : सप्तम उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है—उपभोग-परभोग विधि का प्रत्याख्यान करना। उल्लणिया (अङ्ग पोंछने का वस्त्र) विधि (उसकी जाति एवं संख्या) की मर्यादा करना, दन्तवन (दतौन) विधि की (मर्यादा) करना, फलों की मर्यादा करना, अभ्यंगन (मालिश) की मर्यादा करना, उद्वर्तन (उबटना) की मर्यादा करना, मज्जन (स्नान) की मर्यादा करना, वस्त्र की मर्यादा करना, विलेपन (लेपन या लेप) की मर्यादा करना, फूलों की मर्यादा करना, आभूषणों की मर्यादा करना, धूप की मर्यादा करना, पेय

(पीने योग्य पदार्थों) की मर्यादा करना, भक्ष्य (खाने योग्य पदार्थों) की मर्यादा करना, ओदन (चावल) की मर्यादा करना, सूप (दाल) की मर्यादा करना, विकृति (विगय) की मर्यादा करना, शाक (साग) की मर्यादा करना, मधुर (मीठे फल आदि) की मर्यादा करना, जेमन (भोजन) की मर्यादा करना, पानीय (जल) की मर्यादा करना, मुख-वास (पान, सुपारी, इलाइची आदि) की मर्यादा करना, वाहन (सवारी) की मर्यादा करना, शयन (शय्या आदि) की मर्यादा करना, उपानत् (जूतों) की मर्यादा करना, सचित्त पदार्थों की मर्यादा करना, द्रव्य (विविध पदार्थों) की मर्यादा करना।

इत्यादि जो परिमाण (मर्यादा) किया, उससे अधिक उपभोग-परिभोग के सेवन का प्रत्याख्यान (त्याग) करना।

जीवन पर्यन्त, एक करण तीन योग से, न करूँ, मन से, वचन से, काय से।

सप्तम उपभोग-परिभोगव्रत दो प्रकार का है। वह इस प्रकार से—भोजन से और कर्म (व्यापार) से। उस में भोजन-सम्बन्धी व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने के योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं।

जैसे कि—त्यागी हुई सचित्त वस्तु का आहार (भोजन) करना, सचित्त-संयुक्त वस्तु का आहार करना, अप्प ओलि (कम पकी या अधपकी) ओषधि (फली या धान्य आदि) का भक्षण (सेवन) करना,

दुप्पओलि (दुष्पक्व = देर में पकने वाली या अधिक पकी) ओषधि (फली या धान्य आदि) का भक्षण (सेवन) करना। तुच्छ (असार) अर्थात् जिसमें डालने योग्य भाग अधिक हो और खाने योग्य कम हो, ऐसी ओषधि (फली या धान्य आदि) का भक्षण (सेवन) करना।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उस का पाप मेरे लिए निष्फल हो।

: ३२ :

पंचदश कर्मादान

मूल : कम्मओ णं समणोवासएणं पन्नरस कम्मादाणाइं, जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं

तं जहा—इंगाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडी-कम्मे, भाडी-कम्मे, फोडी-कम्मे।

दंत-वाणिज्जे, केस-वाणिज्जे, रस-वाणिज्जे, लक्ख-वाणिज्जे, विस-वाणिज्जे।

जंतपीलण-कम्मे, निल्लंछण-कम्मे, दवग्गि-दावणया-कम्मे, सर-दह-तलाय-परिसोसणया-कम्मे, असइजण-पोसणया-कम्मे।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : कर्म (व्यापार) से श्रमणोपासक को पन्दरह कर्मादान (कर्म के आदान हेतु) जानने के योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं।

जैसे कि—अंगार (कोयलों) का कर्म (व्यापार) करना, वन (वन काटने) का कर्म (व्यापार) करना, साडी (गाड़ी बनाने) का कर्म करना, भाडी (भाड़े पर घोड़ा बैल आदि) चलाने का कर्म करना, फोडी (जमीन खोद कर खान आदि) का कर्म (व्यापार) करना।

दान्तों का व्यापार करना, केश (केशवती = दासी आदि) का व्यापार करना, रस (मदिरा आदि) का व्यापार करना, लाख का व्यापार करना, विष का व्यापार करना।

यन्त्र (कोल्हू) मे पीडन (पीलने आदि) का कर्म करना, खस्सी का कर्म करना वन में आग लगाने का कर्म करना, सरोवर, तालाव आदि के सूखाने का कर्म करना, वेश्या आदि कुलटा नारियों का पोषण करके उन से आजीविका चलाने का कर्म (व्यापार) करना।

जो मैं ने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

उपभोग-परिभोग :

जीवन भोग से भरा हुआ है। जब तक जीवन है, भोग का सर्वथा त्याग तो नहीं किया जा सकता। हाँ, आसक्ति को कम करने के लिए भोग की मर्यादा की जा सकती है। जैन धर्म गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने तथा उस के लिए उपभोग-परिभोग में आने वाले भोजन,

पान, वस्त्र आदि पदार्थों के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करता है। यह मर्यादा एक-दो दिन आदि के रूप में सीमित काल तक अथवा जीवन पर्यन्त के लिए की जा सकती है। जैन साधना का शुद्ध उद्देश्य है—भोग से त्याग की ओर जाना। यदि एक दम पूर्ण त्याग न हो सके, तो धीरे-धीरे त्याग की ओर गति होती रहनी चाहिए। उपभोग एवं परिभोग के योग्य वस्तुओं की मर्यादा करना श्रावक का आवश्यक धर्म है। क्योंकि जीवन केवल भोग के लिए ही नहीं है, उस से परमार्थ की साधना भी करनी चाहिए।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत :

सप्तम उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है—उपभोग-परिभोग के योग्य वस्तुओं की मर्यादा करना। जो वस्तु एक बार भोगी जा चुकने के बाद फिर न भोगी जा सके— उस पदार्थ को भोगना, काम में लेना—उपभोग है। जैसे भोजन, पानी, अंग रचना एवं विलेपन आदि। जो वस्तु एक बार से अधिक बार काम में ली जा सके,—उस वस्तु को काम में लेना—परिभोग कहाता है। जैसे वस्त्र, अलङ्कार आदि।

अतिचार :

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत दो प्रकार का है—भोजन-सम्बन्धी और कर्म सम्बन्धी। भोजन सम्बन्धी व्रत के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने के योग्य तो हैं, किन्तु आचरण के योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार हैं—

सचित्ताहार :

सचित्त पदार्थ का आहार। जैसे-धान्य, बीज, जल एवं वनस्पति आदि। उक्त वस्तुएँ जो सचित्त त्याग के रूप में त्याग कर दी गई हैं, उन्हें भूल से खाना।

सचित्त प्रतिबद्धाहार :

वस्तु तो अचित्त है, परन्तु उस को प्रत्याख्यात सचित्त वस्तु से सम्बन्धित कर के खाना, सचित्त प्रतिबद्ध आहार है।

अपक्व[1] औषधि भक्षणता :

जो वस्तु पूर्ण पक्व नहीं है, और जिसे कच्ची भी नहीं कह सकते, ऐसी अधपकी चीज को खाना।

दुष्पक्व[2] औषधि भक्षणता :

जो वस्तु पकी हुई तो है, परन्तु बहुत अधिक पक गई है, और पक कर बिगड़ गई है, अथवा देर में पकने वाली ऐसी वस्तु को खाना।

तुच्छ औषधि भक्षणता :

जिस में क्षुधा निवारक भाग कम है, और व्यर्थ का भाग अधिक है, ऐसी चीज को खाना। जैसे—मूँग आदि की कच्ची फली, जिसमें पौष्टिक तत्त्व बहुत कम होता है।

पन्द्रह कर्मादान

व्याख्या :

१. अंगार-कर्म :

कोयले बना कर बेचना, उससे अपनी आजीविका चलाना। इस कार्य में षट् काय के जीवों की बहुत अधिक हिंसा होती है, और लाभ कम होता है। कोयले के लिए हरे-भरे वृक्ष काट डाले जाते हैं।

---

१. जो वस्तु पूर्ण पक्व नहीं है,..........और जिसे कच्ची भी नहीं कह सकते, ऐसी अर्ध पक्व चीज खाना.......!

—'गृहस्थ-धर्म' भाग ३, पृ० ४५।

अपक्व अर्थात् अल्प (थोड़ी) पकी हुई वनस्पति का भक्षण करना।

—पू० घासीलालजी कृत उपासक दशांग टीका पृ० ३०८।

२. 'गृहस्थ-धर्म' भाग ३, पृ० ४६।

चिर काल से अग्नि की आंच द्वारा सीझने वाली तूम्बी, चमले-की फली आदि का भक्षण करना।

—पूज्य घासीलाल जी, उपासक... टी० पृ० ३०९।

२. वन-कर्म :

जङ्गल में से हरी लकड़ी, बांस आदि काट कर वेचना, और उस से अपनी आजीविका चलाना। इस में त्रस जीवों की भी बहुत बड़ी हिंसा होती है।

३. साडी-कर्म :

बैल-गाड़ी अथवा घोड़ा-गाड़ी आदि द्वारा भाड़ा कमाना। अथवा गाड़ी आदि वाहन बनवा कर बेचना। किराये पर चलाना। इस में भी त्रस जीवों की बहुत हिंसा होती है।

४. भाड़ी-कर्म :

जिस प्रकार अंगार कर्म और वन कर्म का परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार साडी कर्म और भाडी कर्म का भी आपस में सम्बन्ध है। साडी-कर्म में गाड़ी आदि वाहन मुख्य हैं और भाडी-कर्म में भाड़ा कमाने की दृष्टि से घोड़े, ऊँट एवं बैल आदि पशु मुख्य हैं।

५. फोडी-कर्म :

हल, कुदाली एवं सुरंग आदि से पृथ्वी को फोड़ना और उस में से निकले हुए पत्थर, मिट्टी एवं धातु आदि खनिज पदार्थ को बेचना स्फोट-कर्म है। अथवा भूमि खोदने का ठेका लेकर भूमि खोदना। उस से आजीविका करना। कृषि-कर्म, फोडी-कर्म नहीं है। वह श्रावकत्व के लिए सर्वथा वर्जित भी नहीं है।

६. दन्त-वाणिज्य :

दाँत का व्यापार करना। दांत लेना, खरीना, और खरीद कर उसकी अन्य वस्तुएँ बना कर बेचना। इस में दान्तवाले पशु का वध होता है, अतः इस में त्रस जीवों की बहुत बड़ी हिंसा होती है।

७. लक्ष-वाणिज्य :

लाख का व्यापार करना। लाख वृक्षों का रस है। लाख निकालने में त्रस जीवों की बहुत हिंसा होती है।

८. रस-वाणिज्य :

रस का व्यापार करना। यहाँ रस से मतलब मदिरा आदि से है। नशीले पदार्थों का व्यापार नहीं करना चाहिए। मदिरा पान से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। दूध एवं घी आदि का व्यापार रस-वाणिज्य में नहीं है। क्यों कि ये पदार्थ तो सात्त्विक है, जीवन का पोषण करते हैं।

९. विष-वाणिज्य :

विष का व्यापार करना। संखिया, अफीम, आदि जीवन-नाशक पदार्थों की गणना विष में है। इस में त्रस जीवों की हिंसा की सम्भावना बहुत अधिक है।

१०. केश-वाणिज्य :

केश का व्यापार करना। यहाँ केश-वाणिज्य से मतलब लक्षणा द्वारा केश वाली दासियों का खरीदना और बेचना है। इस प्रकार का व्यापार श्रावक के लिए वर्जित है।

११. यन्त्र पीलन-कर्म :

यन्त्र द्वारा पीलने का कर्म करना। तिल का तेल और गन्ने आदि का रस पीलकर बेचना। इस में त्रस जीवों की हिंसा की सम्भावना है।

१२. निर्ल्लंछण-कर्म :

पशुओं को खसी करके आजीविका करना। इस व्यवसाय से पशुओं को भयंकर वेदना होती है, और साथ में उनकी नस्ल भी खराब होती है।

१३. दवाग्नि दापनिका-कर्म :

वन दहन करना। भूमि को साफ करने में श्रम न करना पड़े, इस लिए वन में आग लगा देना। इस में त्रस जीवों की बहुत अधिक हिंसा होती है।

१४. सर ह्रद-तडाग शोपण-कर्म :

सरोवर, तालाव एवं नदी आदि के जल का सुखाना। इस से जल में रहने वाले त्रस जीवों की वहुत अधिक हिंसा होती है।

१५. असती-जन-पोषण-कर्म :

कुलटा स्त्रियों को रख कर, उनका पोषण कर के उन के द्वारा आजीविका चलाना। वेश्या वृति करवाना। यह धंधा महान् पाप पूर्ण है। अतः वर्जित है।

पन्दरह कर्मादानों में दश कर्म हैं, और पांच वाणिज्य हैं। श्रावक के लिए ये सब के सब त्याज्य हैं। श्रावकों को महान् पाप से, महारम्भ से वचाने के लिए तथा उन्हें सभ्य सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए भगवान् ने कर्मादानों को निषिद्ध कहा है। पन्दरह कर्मादान का त्याग श्रावक के मूल-व्रतों में गुण उत्पन्न करने वाला है, त्याग वुद्धि को निर्मल वनाने वाला और चित्त को समाधि में रखने वाला है।

ये पन्दरह कर्मादान सातवें व्रत के अतिचारों में हैं। सातवें व्रत के बीस अतिचार हैं, जिन में पांच तो भोजन सम्वन्धी हैं, और पन्दरह धंधा-सम्वन्धी हैं। श्रावक को ये जानने के योग्य तो हैं। किन्तु आचरण के योग्य नहीं हैं।

छब्बीस बोल की मर्यादा

व्याख्या :

१. उल्लणिया-विधि परिमाण :

प्रातः काल जव मनुष्य उठ कर, शौच आदि से निवृत्त होकर, अपने हाथ-मुँह को धोता है, तव पोंछने के लिए वस्त्र-खण्ड की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के वस्त्र की मर्यादा करना।

२. दन्त-धावन विधि परिमाण :

रात में सोकर, उठे हुए मनुष्य के मुख में सांस-उसांस के आने-जाने

से मल संचित हो जाता है, उस को साफ करने के लिए दन्त धावन किया जाता है। दातुन किया जाता है। दातुन के विषय में मर्यादा करना।

३. फल-विधि परिमाण :

मस्तक और बालों को स्वच्छ तथा शीतल करने के लिए प्राचीन युग में आंवले आदि फलों का प्रयोग किया जाता था। आंवला एवं त्रिफला आदि की मर्यादा करना।

४. अभ्यंगन-विधि परिमाण :

त्वचा (चमड़ी) आदि के विकारों को दूर करने के लिए तथा शरीर को बलवान रखने के लिए तैल से शरीर की मालिश करना, अभ्यंगन कहा जाता है। मालिश करने में प्रयुक्त होने वाले तैल की मर्यादा करना।

५. उबटन-विधि परिमाण :

शरीर पर लगी तैल की चिकनाहट को दूर करने के लिए, मैल को दूर करने के लिए तथा शरीर में स्फूर्ति लाने के लिए, प्राचीन काल में उबटन लगाया जाता था, आज के युग में साबुन का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के उबटन की मर्यादा करना।

६. मज्जन-विधि परिमाण :

अभ्यंगन तथा उबटन करने के बाद में स्नान किया जाता था। स्नान के पानी की और स्नान की मर्यादा करना।

७. वस्त्र-विधि परिमाण :

प्राचीन युग में मनुष्य बहुत कम वस्त्रों का उपयोग किया करता था। एक अधो वस्त्र और दूसरा उत्तरीय, बस पुरुष के दो ही वस्त्र होते थे। और स्त्री के कंचुकी-सहित तीन। आज तो वस्त्रों की कोई सीमा नहीं रही है। वस्त्र स्वच्छ तो हों, परन्तु विकार पैदा करने वाले न हों। वस्त्रों की मर्यादा करना।

८. विलेपन-विधि परिमाण :

शरीर को शीतल तथा सुशोभित करने के लिए चन्दन, केशर एवं कुंकुम आदि के विलेपन का प्रयोग किया जाता था और आज भी पाउडर आदि का प्रयोग होता है। इस प्रकार के पदार्थों की मर्यादा करना।

९. पुष्प-विधि परिमाण :

फूलों के प्रति मनुष्य का बड़ा ही आकर्षण रहा है। वह माला बना कर पहनता है, एवं गुलदस्ते सजा कर रखता है। अस्तु, कौन से फूल लेना और कौन-से न लेना और वह भी किस रूप में तथा कितनी मात्रा में लेना, इस प्रकार पुष्प की मर्यादा करना।

१०. आभरण-विधि परिमाण :

प्राचीन युग में स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने शरीर को अलंकृत करने के लिए आभूषणों का प्रयोग करते थे, और आज भी करते हैं। इस प्रकार आभूषणों की मर्यादा करना।

११. धूप-विधि परिमाण :

· घर में, स्वास्थ्य की दृष्टि से वायु आदि की शुद्धि के लिए धूप एवं अगर-वत्ती आदि का प्रयोग किया जाता है। ऐसे पदार्थों की मर्यादा करना।

१२. पेय-विधि परिमाण :

पीने योग्य पदार्थों को पेय कहते हैं। अतः दूध, चाय एवं रस आदि पदार्थों की मर्यादा करना।

१३. भक्षण-विधि परिमाण :

खाने योग्य पदार्थों को भक्षण कहा जाता है। अतः मिष्टान्न एवं पाक आदि पदार्थों की मर्यादा करना।

१४. ओदन-विधि परिमाण :

ओदन चावल (भात) को कहते हैं। वे अनेक प्रकार के होते हैं। उनकी मर्यादा करना।

१५. सूप-विधि परिमाण :

सूप का अर्थ है—दाल। दाल अनेक प्रकार की है। मूंग, उड़द आदि की। उनकी मर्यादा करना।

१६. विगय-विधि परिमाण :

दुग्ध, दधि, घृत, तेल एवं मिठाई आदि पदार्थ विकार उत्पन्न करने के कारण विकृत: अर्थात् विगय कहलाते हैं। ये सामान्य विगय है। मधु और मक्खन विशेष विगय हैं। मद्य और मांस महाविगय हैं। श्रावक के लिए मदिरा और मांस का तो मूलतः ही निषेध होता है। शेष विकृतियों की मर्यादा करनी चाहिए।

१७. शाक-विधि परिमाण :

भोजन के साथ व्यञ्जन-रूप में जो खाए जाते हैं, वे शाक होते हैं। उनकी मर्यादा करना।

१८. मधुर-विधि परिमाण :

आम, जामुन, केला एवं अनार आदि हरे फलों को और दाख, बादाम एवं पिश्ता आदि सूखे फलों को मधुर कहते हैं। उनकी मर्यादा करना।

१६. जेमन विधि परिमाण :

जो पदार्थ भोजन के रूप में खाए जाते हैं, उनको जेमन कहते हैं। रोटी, बाटी, पूरी आदि। उनकी मर्यादा करना।

२०. पानी-विधि परिमाण :

खारा पानी, मीठा पानी, गरम पानी और ठंडा पानी, नदी का पानी आदि अनेक प्रकार का जल है। उसकी मर्यादा करना।

२१. मुख-वास विधि परिमाण :

इलायची, पान एवं सुपारी आदि पदार्थों को मुख-वास कहते हैं। ये भोजन के बाद स्वाद के लिए खाए जाते हैं। इस प्रकार के पदार्थों की मर्यादा करना।

२२. उपानत् विधि परिमाण :

पैर में पहनने के योग्य जूते, खड़ाऊँ, सिलीपर आदि को उपानत् कहते है। उनकी मर्यादा करना।

२३. वाहन-विधि परिमाण :

वाहन का अर्थ है— सवारी। घोड़ा, ऊँट, हाथी, रथ, बैलगाड़ी, रेल, मोटर एवं साइकिल आदि। इनकी मर्यादा करना।

२४. शयन विधि परिमाण :

सोने के प्रयोग में आने वाले पदार्थ शयन में आ जाते हैं। खाट, पाट, आसन, विछौना आदि, उपलक्षण से कुर्सी, मेज आदि भी। उनकी मर्यादा करना।

२५. सचित्त-विधि परिमाण :

सचित्त पदार्थों का अधिक-से-अधिक त्याग करना, साधक जीवन का लक्ष्य है। परन्तु सम्पूर्ण रूप में जब तक सचित्त पदार्थों का त्याग न हो सके, तो उनकी मर्यादा करना। इसको सचित्त की मर्यादा कहते हैं।

२६. द्रव्य-विधि परिमाण :

संसार में उपभोग्य पदार्थ अनन्त हैं। मनुष्य अपने सीमित जीवन में उन सभी का उपभोग नहीं कर सकता। ऐसा होना सम्भवित भी नहीं है। अतः द्रव्यों (पदार्थों) की मर्यादा करनी चाहिए। इस से जीवन संयत बनता है। पूर्वोक्त २५ बोल के अतिरिक्त शेष सभी पदार्थ उक्त २६ वें बोल में आ जाते हैं।

छब्बीस बोलों में पहले से ग्यारह तक के बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ एवं सुशोभित करने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं। बीच के दश खाने-पीने में आने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं, और अन्त के शेष बोल शरीर आदि की रक्षा करने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं।

: ३५ :

अष्टम अनर्थ-दण्ड-विरमण-व्रत

मूल : अट्ठमं वयं अणट्ठ-दण्ड-वेरमणं । से य अणट्ठ-दण्डे चउव्विहे पन्नत्ते ।

तं जहा—अवज्झाणाचरिए, पमायाचरिए, हिंसप्पयाणे, पाव-कम्मोवएसे ।

इच्चेवमाइयस्स अणट्ठ दण्डासेवणस्स पच्चक्खाणं । जावज्जीवाए, दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा ।

एयस्स अट्ठमस्स अणट्ठ दण्ड-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा ।

तं जहा—कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संयुत्ताहिगरणे, उवभोग-परिभोगाइरित्ते ।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ : अष्टम व्रत है—अनर्थ-दण्ड से विरत होना । वह अनर्थ-दण्ड चार प्रकार का है ।

जैसे कि—अपध्यान (बुरा चिन्तन) आचरित करना, प्रमाद का आचरण करना, हिंसाकारी शस्त्र आदि का बनाना एवं देना, पाप कर्म का उपदेश करना ।

इत्यादि अनर्थ दण्ड के सेवन का प्रत्याख्यान (त्याग) करना।

जीवन पर्यन्त, दो करण तीन योग से, न करूँ, न कराऊँ, मन से, वचन से, काय से।

इस अष्टम अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने के योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं।

जैसे कि—काम-उद्दीपक कथा करना, भाण्ड की तरह कुचेष्टा करना, बिना प्रयोजन के अधिक बोलना, अधिकरण (हिंसाकारी साधन) का संग्रह करना, उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का मर्यादा में अधिक रखना।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उस का पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

अनर्थ दण्ड :

मनुष्य यदि अपने जीवन को विवेक-शून्य एवं प्रमत्त रखता है, तो बिना प्रयोजन भी वह हिंसा आदि कर बैठता है। मन, वचन और काय को सदा संयत रखना चाहिए। प्रत्येक क्रिया विवेक तथा यतना से करनी चाहिए। अप्राप्त भोगों के लिए मन में लालसा रखना। प्राप्त भोगों की रक्षा के लिए चिन्ता करना। बुरे विचार एवं बुरे संकल्प रखना। पाप कार्य के लिए किसी को प्रेरणा देना, परामर्श देना। हाथ एवं मुख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना। काम भोग सम्बन्धी वार्तालाप में रस लेना। बात-बात में गाली-गलौज देना। व्यर्थ में हिंसाकारक शस्त्रों का संग्रह करना। आवश्यकता से अधिक भोग-सामग्री एकत्र करना। तेल एवं घृत आदि के पात्र बिना ढँके खुले मुँह रखना। यह सब अनर्थ-दण्ड है।

बिना प्रयोजन की हिंसा है। साधक को उक्त सब अनर्थ-दण्डों से निवृत्त रहना चाहिए।

अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत :

अष्टम व्रत है—अनर्थ दण्ड से विरत होना। वह अनर्थ-दण्ड चार प्रकार का है। जैसे कि—

अपध्यानाचरित :

जो ध्यान अप्रशस्त है, बुरा है—वह अपध्यान है। ध्यान का अर्थ है—किसी भी प्रकार के विचारों में चित्त की एकाग्रता। व्यर्थ के बुरे संकल्पों में चित्त को एकाग्र करने से जो अनर्थ-दण्ड होता है, उसको अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहते हैं। अपध्यान के दो भेद हैं - आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान।

प्रमादाचरित :

प्रमाद का आचरण करना। प्रमाद से आत्मा का पतन होता है। प्रमाद पांच हैं— मद, विषय, कषाय, निद्रा, और विकथा। ये पांच प्रमाद अनर्थ-दण्ड रूप हैं। निद्रा भी अ-मर्यादित रूप में साधक के लिए त्याज्य है।

हिंसा-प्रदान :

हिंसा में सहायक होना। जिन से हिंसा होती है, ऐसे अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधन अन्य विवेकहीन व्यक्तियों को दे देना, हिंसा में सहायक होना है।

पापोपदेश :

पाप-कर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश से पाप-कर्म में प्रवृत्ति हो, पाप-कर्म की अभिवृद्धि हो, उपदेश सुनने वाला पाप-कर्म करने लगे, वह उपदेश अनर्थ-दण्ड रूप है।

अतिचार :

अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को

को जानने योग्य तो हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार से हैं—

कन्दर्प :

काम-वासना प्रबल करने वाले तथा मोह उत्पन्न करने वाले शब्दों का हास्य में या व्यङ्ग में, दूसरे के लिए उपयोग करना।

कौत्कुच्य :

आँख, नाक, मुँह, भृकुटि आदि अपने अङ्गों को विकृत बनाकर भाण्ड एवं विदूषक की भाँति चेष्टाएँ करना।

मौखर्य :

बिना प्रयोजन के अधिक बोलना, अनर्गल बातें करना, व्यर्थ की बकवास करना और किसी की निन्दा, चुगली करना।

संयुक्ताधिकरण :

कूटने और पीसने आदि के काम में आने वाले घर के साधनों का जैसे - ऊखल, मूसल, चक्की एवं लोढ़ी आदि वस्तुओं का—अधिक तथा निष्प्रयोजन संग्रह करके रखना।

उपभोग-परिभोगातिरिक्त :

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए जो पदार्थ मर्यादा में रखे हैं, उन में अत्यन्त आसक्त रहना, उनका बार-बार उपयोग करना, उनका उपयोग स्वाद के लिए करना। जैसे भूख न होने पर भी स्वाद के लिए खाना। शरीर रक्षा के लिए नहीं, मौज-शौक के लिए वस्त्र पहनना आदि।

: ३६ :

नवम सामायिक-व्रत

मूल : नवमं सामाइयव्वयं सावज्ज-जोग-वेरमण-रूवं। जाव नियमं पज्जुवासामि। दुविहं

तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा ।

एयस्स नवमस्स सामाइयव्वयस्स समणोवास-एणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समाय-रियव्वा ।

तं जहा—मण-दुप्पणिहाणे, वय-दुप्पणिहाणे, काय-दुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया ।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अर्थ : नवम सामायिक व्रत है—सावद्य योग से विरत होना । जब तक नियम में रहकर पर्युपासना करूँ, तब तक दो करण तीन योग से, (पाप कर्म) न करूँ, न कराऊँ, मन से, वचन से, काय से ।

इस नवम सामायिक व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने के योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं ।

जैसे कि—मन से दुष्प्रणिधान (सावद्य व्यापार का चिन्तन) करना, वचन से सावद्य व्यापार-सम्बन्धी भाषण करना, काय से सावद्य व्यापार करना, सामायिक करने की स्मृति न रखना, सामायिक अव्यवस्थित रूप में करना, (समय से पूर्व ही पार लेना आदि, या समय पर न करना आदि) ।

जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका
पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

सामायिक :

जैन-धर्म की साधना में सामायिक का बड़ा महत्त्व है। सामायिक का अर्थ है—सम-भाव की साधना। संसार के प्रपंचों से अलग होकर, राग-द्वेष के द्वन्द्वों से हट कर, जीवन को निरवद्य, निष्पाप एवं पवित्र बनाना ही समत्व-भाव है, समता भाव है। परन्तु गृहस्थ जीवन में समभाव की साधना कितनी और कैसी हो सकती है? यह एक प्रश्न है। गृहस्थ—एक गृहस्थ है, वह साधु नहीं है, जो जीवन भर के लिए सब पाप-व्यापारों का पूर्ण रूप से परित्याग करके, पूर्ण समभाव का पवित्र जीवन बिता सके। अतः उसे प्रतिदिन कम-से-कम अमुक मर्यादा के साथ एक मुहूर्त (अड़तालीस मिनट) के लिए तो सामायिक व्रत धारण करना ही चाहिए। गृहस्थ की सामायिक— साधु की पूर्ण सामायिक के अभ्यास की भूमिका है। वह दो घड़ी का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन को निष्पाप, निष्कलंक एवं पवित्र बनाता है।

सामायिक व्रत :

नवम सामायिक व्रत है - सावद्य योग से विरत होना। सामायिक व्रत एक अध्यात्म साधना है, परन्तु उसे करने से पूर्व शुद्धि की आवश्यकता है। शुद्धि चार प्रकार की होती है; जो इस प्रकार से है—

द्रव्य-शुद्धि :

सामायिक के लिए जो उपकरण हैं; जैसे— वस्त्र, पुस्तक, रजोहरणी, मुख वस्त्रिका एवं आसन आदि—इन सभी का शुद्ध एवं उपयोगी होना आवश्यक है।

क्षेत्र-शुद्धि :

जहाँ सामायिक की जाती है, उस स्थान को क्षेत्र कहते हैं। शान्त-वातावरण और एकान्त रूप में क्षेत्र की शुद्धि भी आवश्यक है।

काल-शुद्धि :

सामायिक प्रातःकाल आदि ऐसे शान्ति के समय में करनी चाहिए, ताकि वह अनुद्वेग, शान्त और निर्विघ्नता के साथ हो सके। इसका भी विचार रखना चाहिए कि सामायिक के काल में ही सामायिक की जाए।

भाव-शुद्धि :

सामायिक करते समय भाव-शुद्धि भी आवश्यक है। मन की पवित्रता एवं शुभ संकल्प रखना, भाव शुद्धि है।

अतिचार :

सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने योग्य तो हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं। वे इस प्रकार हैं—

मनो दुष्प्रणिधान :

मन में बुरे संकल्प विकल्प करना। मन को सामायिक में न लगा कर सांसारिक कार्य में लगाना।

वचन दुष्प्रणिधान :

सामायिक में कटु, कठोर, निष्ठुर, असभ्य तथा सावद्य वचन बोलना। किसी की निन्दा करना, आदि।

काय दुष्प्रणिधान :

सामायिक में चंचलता रखना। शरीर से कुचेष्टा करना। बिना कारण शरीर को फैलाना और समेटना। अन्य किसी प्रकार की सावद्य चेष्टा करना, आदि।

सामायिक स्मृति-भ्रंश :

'मैंने सामायिक की है'; इस बात को ही भूल जाना। सामायिक कब

ली और वह कब पूरी होगी, इस बात का ध्यान न रखना, अथवा समय पर सामायिक करना ही भूल जाना।

सामायिकानवस्थिति :

सामायिक की साधना से ऊबना, सामायिक के काल के पूर्ण हुए विना ही सामायिक पार लेना। सामायिक के प्रति आदर-बुद्धि न रखना, आदि।

: ३७ :

दशम देशावकाशिक-व्रत

मूल : दसमं देसावगासियव्वयं दिण-मज्झे पच्चूस-कालाओ आरब्भ पुव्वादिसु छस्सु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं, तओ अइरित्तं सेच्छाए काएण गंतूणं, अन्ने वा पहिऊण, पंच आसवा-सेवणस्स पच्चक्खाणं।

जाव अहोरत्तं, दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।
अह य छस्सु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं, तम्मज्झे वि जावइयाणं दव्वाणं परिमाणं कयं, तओ अइरित्तस्स उव भोग-परिभोगस्स पच्चक्खाणं।

जाव अहोरत्तं, एग विहं तिविहेणं, न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा।

एयस्स दसमस्स देसावगासियव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

तं जहा—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहियापुग्गलपक्खेवे। जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : दशम देशावकाशिक व्रत है—दिन में प्रातः काल से लेकर पूर्वादि छह दिशाओं में जितनी भूमि का परिमाण (मर्यादा) किया, उसके अतिरिक्त अपनी इच्छा से स्वयं शरीर से जाकर, अथवा अन्य को भेज कर, पांच आस्रव के सेवन का प्रत्याख्यान (त्याग) करना।

यावत् दिन-रात पर्यन्त, दो करण तीन योग से, (आस्रव सेवन) न करूं, न कराऊं, मन से, वचन से, काय से। अथवा

छह दिशाओं में जितना परिमाण किया, उस में भी जितने द्रव्यों का परिमाण किया, उसके अतिरिक्त उपभोग-परिभोग का प्रत्याख्यान (त्याग) करना।

यावत् दिन रात तक, एक करण तीन योग से, (हिंसा, असत्य आदि आस्रव सेवन) न करूं, मन से, वचन से, काय से।

इस दशम देशावकाशिक-व्रत के श्रमणोपासक को पाँच अतिचार जानने के योग्य है, (किन्तु) आचरण करने के योग्य नहीं हैं।

जैसे कि—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगाना, मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजना, शब्द के द्वारा मनोगत भाव का ज्ञान कराना, रूप दिखाकर मनोगत भाव प्रकट करना, कंकर आदि पुद्गल (वस्तु) फेंककर मनोगत भाव प्रकट करना।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

देशावकाशिक :

परिग्रह परिमाण व्रत, दिशा परिमाण व्रत और उपभोग परिभोग परिमाण व्रत की जीवन भर की प्रतिज्ञा को और अधिक व्यापक एवं विराट बनाने के लिए देशावकाशिक व्रत ग्रहण किया जाता है। दिशा परिमाण व्रत में गमन-आगमन का क्षेत्र जीवन पर्यन्त के लिए सीमित एवं मर्यादित किया जाता है। प्रस्तुत व्रत में उस सीमित क्षेत्र को एक-दो दिन आदि के लिए और अधिक सीमित कर लिया जाता है। देशावकाशिक व्रत की साधना में क्षेत्र-सीमा का संकोच होता है, साथ में उपभोग्य सामग्री की सीमा भी संकुचित हो जाती है। देशावकाशिक व्रत की प्रतिज्ञा हर रोज की जाती है।

देशावकाशिक व्रत :

दशम देशावकाशिक व्रत है—प्रतिदिन क्षेत्र आदि की मर्यादा को कम करते रहना। जैन-धर्म त्याग-लक्षी है। जीवन को अधिक-से-अधिक त्याग की ओर झुकाना ही साधना का मुख्य ध्येय है। प्रस्तुत व्रत में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

अतिचार :

देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने योग्य तो हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार हैं—

आनयन-प्रयोग :

मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेज कर अंदर में मँगवाना, अथवा समाचार मँगवाना।

प्रेष्य-प्रयोग :

मर्यादा से बाहर की भूमि में अंदर में से किसी दूसरे के द्वारा कोई पदार्थ अथवा सन्देश भेजना।

शब्दानुपात :

मर्यादा के बाहर की भूमि से सम्बन्धित कार्य के आ पड़ने पर, मर्यादा की भूमि में ही रह कर, शब्द के द्वारा, अर्थात् खंखार कर, चुटकी आदि बजा कर, दूसरे को अपना भाव प्रकट कर देना, जिससे वह व्यक्ति बिना कहे ही संकेतानुसार कार्य कर सके। यह उक्त व्रत का दूषण है।

रूपानुपात :

मर्यादा में रखी हुई भूमि के बाहर का यदि कोई कार्य आ पड़े, तो शरीर की चेष्टा करके, आँख का इशारा करके या शरीर के अन्य किसी अङ्ग के संकेत से दूसरे व्यक्ति को अपना भाव प्रकट करके, बिना कहे ही उससे काम करा लेना।

बाह्य पुद्गल-प्रक्षेप :

मर्यादित भूमि के बाहर का कार्य आ जाने पर कंकर मार कर, ढेला फेंक कर, अथवा अन्य कोई वस्तु फेंक कर दूसरे को अपना संकेत करना, आदि।

श्रावक के चौदह नियम

श्रमण संस्कृति का मूल लक्ष्य है— भोग से त्याग की ओर जाना। श्रावक के जीवन में विवेक का प्रकाश होना चाहिए। विना विवेक के हेय एवं उपादेय का बोध नहीं हो सकता। क्या छोड़ने के योग्य है, और क्या ग्रहण करने के योग्य है। यह जानना परम आवश्यक है। विवेकी श्रावक की सदा यह भावना रहा करती है, कि मैं आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके असंयम से संयम की ओर बढ़ता रहूँ। श्रावक के लिए प्रतिदिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो परम्परा है, वह इस देशावकाशिक व्रत का ही एक रूप है। श्रावक के वे चौदह नियम इस प्रकार हैं—

१. सचित्त :

पृथ्वी, जल, वनस्पति, अग्नि और फल-फूल, धान्य बीज आदि सचित्त वस्तुओं का यथा शक्ति त्याग करना।

२. द्रव्य :

जो वस्तु स्वाद के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से तैयार की जाती हैं, उन के सम्बन्ध में यह परिमाण करे, कि आज मैं इतने द्रव्य से अधिक द्रव्य उपभोग में न लूँगा।

३. विगय :

शरीर में विकृति एवं विकार को उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय कहा गया है। जैसे—दुग्ध, दधि, घृत, तैल तथा मिठाई। उक्त पदार्थों का यथा शक्ति त्याग करे, अथवा मर्यादा करे, कि इससे अधिक न लूँगा। ये पांच सामान्य विगय हैं, और मधु एवं मक्खन—ये दो विशेष विगय हैं। इन विशेष विगयों का विना कारण के उपभोग करने का त्याग करे, और कारण वश उपभोग करने की मर्यादा करे। मदिरा एवं मांस— ये दो महा विगय हैं। श्रावक को इन दोनों का सर्वथा जीवन-भर के लिए त्याग करना चाहिएं।

४. पन्नी :

'पन्नी' शब्द प्राकृत का है। इसका अर्थ है—उपानत् अर्थात् जूते। बूट, खड़ाऊ तथा मोजे भी पन्नी में आते हैं, इनका त्याग करे, अथवा मर्यादा करे।

५. ताम्बूल :

ताम्बूल का अर्थ है—पान। पान भोजन के बाद में मुख शुद्धि के लिए खाया जाता है। पान की, तथा उपलक्षण से सुपारी की एवं इलायची आदि की मर्यादा करे।

६. वस्त्र :

पहनने, ओढ़ने तथा बिछाने के कपड़ों की मर्यादा करे।

७. कुसुम :

फूल, फूलों की माला और इतर तेल आदि सुगन्धित पदार्थों की मर्यादा करे।

८. वाहन :

वाहन का अर्थ है—सवारी। गज, अश्व, ऊंट, गाड़ी, तांगा, रिक्सा, मोटर, रेल, जहाज, नाव एवं वायुयान आदि सवारी के साधनों का यथा शक्ति त्याग करे या मर्यादा करे।

९. शयन :

शय्या, पलंग, खाट, बिस्तर, मेज, बेंच और कुर्सी आदि की मर्यादा करे।

१०. विलेपन :

शरीर पर लेप करने योग्य पदार्थों का—जैसे, केशर, कस्तूरी, अगर तगर, चन्दन, साबुन और तेल आदि—त्याग करे, या मर्यादा करे।

११. ब्रह्मचर्य :

स्थूल ब्रह्मचर्य—स्वदार-सन्तोषरूप एवं परदार-वर्जनरूप व्रत स्वीकार करते समय जो अमुक दिनों की मर्यादा रखी है, उसका भी यथाशक्ति त्याग करे, या उस में संकोच करे।

१२. दिशा-मर्यादा :

दिशा परिमाण-व्रत स्वीकार करते समय गमन एवं आगमन के लिए जो क्षेत्र-मर्यादा की थी, उस क्षेत्र को और अधिक मर्यादित करे, संकोच करे।

१३. स्नान :

श्रावक शरीर-शुद्धि के लिए स्नान करता है। वह स्नान दो प्रकार का है—देश स्नान एवं सर्व स्नान। शरीर के कुछ भाग को धोना—जैसे हाथ धोना, पैर धोना एवं मुँह धोना—यह देश स्नान है। शरीर के समस्त भाग को धोना सर्व स्नान है। स्नान की मर्यादा करना, अथवा सर्वथा त्याग कर देना।

१४. भक्त :

भोजन-पानी के सम्बन्ध में भी मर्यादा करे, कि आज मैं इतने से अधिक न खाऊँगा, न पीऊँगा।

उक्त चौदह नियम श्रावक के दैनिक कर्तव्य रूप में हैं। यथा-शक्ति उक्त पदार्थों का त्याग करना, अथवा त्याग न कर सके तो मर्यादा करे। चौदह नियमों का पालन श्रावक अपनी त्याग-शक्ति को विकसित करने के लिए ही करता है। वह इन नियमों का पालन कर के धीरे-धीरे भोग से त्याग की ओर बढ़ता है।

: २८ :

एकादश पौषध-व्रत

मूल : एक्कारसमं पोसहोववासव्वयं, असण-पाण-खाइम-साइम-पच्चक्खाणं।

अबंभ-पच्चक्खाणं, मणि-सुवण्णाइ-पच्चक्खाणं, माला-वण्णग-विलेवणाइ-पच्चक्खाणं, सत्थ-मुसलाइ-सावज्ज-जोग पच्चक्खाणं।

जाव अहोरत्तं, पज्जुवासामि। दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।

एयस्स एक्कारसमस्स पोसहोववासव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

तं जहा—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-सिज्जा संथारए, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सिज्जा-संथारए, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चार-पासवणभूमी, अप्पमज्जिय - दुप्पमज्जिय-उच्चार-पासवण भूमी, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : ग्यारहवाँ पौषध या पौषधोपवास व्रत है—अशन (भोजन), पान (पानी), खादिम (खाने योग्य), स्वादिम (स्वाद योग्य) वस्तुओं का प्रत्याख्यान (त्याग) करना।

अब्रह्मचर्य (मैथुन) सेवन का त्याग करना, मणि (रत्न) सोना आदि का त्याग करना, माला रंग विलेपन आदि का त्याग करना, शस्त्र मूसल आदि सावद्य व्यापार का त्याग करना।

यावत् अहोरात्र (दिन-रात तक) पौषध व्रत का पालन करना। दो करण तीन योग से, (अब्रह्म सेवन आदि) न करूँ, न कराऊँ, मन से, वचन से, काय से। इस एकादशम पौषधोपवास व्रत के श्रमणोपासक को पांच अतिचार जानने योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं।

जैसे कि—शय्या-संथारे का मूलतः प्रतिलेखन (निरीक्षण) न किया हो, अथवा विवेक से ठीक तरह न किया हो, शय्या-संथारे की प्रमार्जना (यतना) न की हो, अथवा विवेक से ठीक तरह न की हो, उच्चार-पासवण (मल-मूत्र) की भूमि (स्थान) का प्रतिलेखन न किया हो, अथवा विवेक से ठीक तरह न किया हो, उच्चार-पासवण भूमि का प्रमार्जन न किया हो, अथवा विवेक से प्रमार्जन न किया हो, पौषधोपवास व्रत का विधिवत् पालन न किया हो। जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

पौषध :

पौषध सांसारिक जीवन-संघर्ष की सीमा को और अधिक संकुचित कर देता है। एक अहोरात्र के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पाप

व्यापार का, भोजन-पान का तथा अब्रह्मचर्य का परित्याग करना पौषध-व्रत है। पौषध में साधक की दशा प्रायः साधु जैसी हो जाती है। संसार के प्रपञ्चों से सर्वथा अलग रह कर, एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्म-चिन्तन आदि धार्मिक क्रियाएँ करते हुए जीवन को पवित्र बनाना; इस व्रत का लक्ष्य है। साधक इस में साधु-जैसी चर्या का पालन करता है। उसका वेष भी प्रायः साधु तुल्य रहता है।

पौषध व्रत :

ग्यारहवाँ पौषध व्रत है—आहार आदि का त्याग कर के एकान्त स्थान में रह कर, धर्म-चर्या का पालन करना। पौषध व्रत के चार अंग हैं। वे इस प्रकार हैं—

आहार पौषध :

चारों आहारों का त्याग करना। भोजन-पान आदि खाद्य एवं पेय सभी आहार-सम्बन्धी द्रव्यों का त्याग करके आत्म-भाव की साधना में लीन होना।

शरीर-संस्कार पौषध :

स्नान, उबटन, विलेपन, पुष्प, गन्ध, आभूषण और वस्त्र आदि से शरीर को सजाने का त्याग करना।

ब्रह्मचर्य पौषध :

तीव्र मोहोदय के कारण वेद-जन्य चेष्टारूप मैथुन एवं मैथुन के अंगों का त्याग करना, और आत्म-भाव में रमण करना तथा धर्म का पोषण करना।

अव्यापार पौषध :

समस्त गृह कार्य आदि सावद्य व्यापार का त्याग करके संवर-भाव की साधना में लीन रहना। सचित्त का संघट्टा भी न करना।

पौषध व्रत की साधना का एकमात्र यही उद्देश्य है, कि जीवन में भोग ही न रहकर, त्याग भी आए।

अतिचार :

पौषध व्रत के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने के योग्य तो हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं। वे इस प्रकार हैं—

अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या संस्तारक :

पौषध-काल में काम में लिए जाने वाले शय्या = मकान, पाट, बिछौना, एवं संथारा आदि का तथा उपकरणों का प्रतिलेखन न करना, अथवा विधि-पूर्वक प्रतिलेखन न करना।

अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक :

मकान, पाट, बिस्तर एवं धर्मोपकरण आदि का प्रमार्जन न करना, अथवा विधि-पूर्वक प्रमार्जन न करना।

अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि :

शरीर-धर्म से निवृत्त होने के लिए; अर्थात् मल-मूत्र के त्याग के लिए भूमि का प्रतिलेखन न किया हो, अथवा विधि-पूर्वक न किया हो।

अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि :

मल-मूत्र के त्यागने के लिए भूमि का प्रमार्जन न किया हो, अथवा विधि-पूर्वक प्रमार्जन न किया हो।

पौषधोपवास समननुपालन :

पौषध व्रत का विधिवत् पालन न करना, अथवा सम्यक् रीति से पूरा न करना। समय से पूर्व ही पौषध पार लेना आदि।

विशेष ज्ञातव्य :

यह पौषध चौविहार या तिविहार दोनों तरह से हो सकता है। जब तिविहार करना हो, तो पाठ में 'पाण' शब्द का प्रयोग न करना

चाहिए। कुछ लोग पानी लेने पर दशवाँ पौषध मानते हैं और इसके लिए देशावकाशिक व्रत का पाठ पढ़ते हैं। परन्तु यह धारणा गलत है, दशवाँ व्रत पौषध-व्रत नहीं है।

और आज-कल जो दया का रूप प्रचलित है, वह भी पौषध ही है। इसीलिए इसे दया पौषा भी कहा जाता है। उक्त क्रिया में 'असण-पाण-खाइम-साइम-पच्चक्खाणं' यह पाठांश न कहना चाहिए। शेष अंश ज्यों का त्यों है।

: २६ :

द्वादश अतिथि-संविभाग-व्रत

मूल :

बारसमं अतिहि-संविभागव्वयं समणे निग्गंथे फासुएणं, एसणिज्जेणं, असण-पाण-खाइम-साइमेणं, वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पाय-पुंछणेणं, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जा-संथारएणं, ओसह-भेसज्जेणं य पडिलाभेमाणे विहरामि।

एयस्स बारसमस्स अतिहि-संविभागव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

तं जहा—सचित्त-निक्खेवणया, सचित्त-पिहणया, कालाइक्कमे, पर-ववएसे, मच्छरिया।

जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : द्वादशवाँ अतिथि-संविभाग व्रत है—श्रमण निर्ग्रन्थ को अचित्त (प्रासुक) तथा एषणीय (कल्पनीय) भोजन, पानी, खादिम (खाने योग्य), स्वादिम (स्वाद योग्य), वस्त्र, प्रतिग्रह (पात्र), कम्बल, पाद-प्रोञ्छन (पैर पोंछना), प्रातिहारिक (जो वस्तु गृहस्थ को वापिस लौटाई जा सकें ऐसे) पीठ, फलक (पट्टा), शय्या (वसति आदि), संथारा (घास का बिछौना आदि), औषधि, भैषज्य (अनेक औषधियों का एक संमिश्रण) आदि का प्रतिलाभ (दान) देना।

इस बारहवें अतिथि संविभाग व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक को जानने योग्य हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं।

जैसे कि— अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखना, अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढांकना, काल का अतिक्रमण करना, अपनी वस्तु को (न देने की इच्छा से) दूसरे की बताना, मत्सर-भाव से (ईर्ष्या भाव से) दान देना।

जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार किए हों, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

अतिथि-संविभाग :

अतिथि-संविभाग का अर्थ है—अतिथि के लिए विभाग करना। अतिथि का सत्कार करने के लिए अपने भोजन आदि पदार्थों में से उचित विभाग प्रदान करना— अतिथि-संविभाग है। गृहस्थ के घर का द्वार जन-सेवा के लिए सदा खुला रहना चाहिए। यदि कभी साधु-साध्वी आएँ, तो भक्ति भाव के साथ उनको योग्य कल्पनीय आहार आदि

देना चाहिए। यदि कोई अन्य अतिथि भी आए, तो उसका भी योग्य आदर होना चाहिए। गृहस्थ के द्वार पर से यदि कोई व्यक्ति भूखा एवं निराश लौट कर जाता है, तो यह समर्थ गृहस्थ के लिए एक पाप है। अतिथि संविभाग व्रत इसी पाप से बचने के लिए है।

अतिथि-संविभाग व्रत :

द्वादशवां अतिथि-संविभाग व्रत है—द्वार पर आए अतिथि का अपने भोजन आदि में से विभाग करना। मनुष्य संग्रह-ही संग्रह न करता रहे, साथ में देना भी सीखे। लेने के साथ देना भी आवश्यक है। प्रस्तुत व्रत में त्याग की शिक्षा दी गई है। मनुष्य को अपनी सम्पत्ति आदि का व्यामोह होता है और वह निरन्तर संग्रह भी करता रहता है। परन्तु यदि त्यागना नहीं सीखेगा, तो फिर वह अपने जीवन को पवित्र कैसे बनाएगा? परिग्रह का बन्धन संसार में सब से बड़ा बन्धन है। त्याग के द्वारा उस बन्धन को तोड़ना, यही उद्देश्य प्रस्तुत व्रत का है। इस में दान देने की शिक्षा दी गई है।

अतिचार :

अतिथि-संविभाग व्रत का मुख्य सम्बन्ध त्यागी साधु से है। अतः तत्सम्बन्धी पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने योग्य तो हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार हैं –

सचित्त-निक्षेप :

जो पदार्थ अचित्त होने के कारण मुनि के ग्रहण करने योग्य है, उस को सचित्त पदार्थों पर रख देना; जिससे कि सचित्त संस्पर्श का भी त्यागी होने से मुनि ग्रहण न कर सके।

सचित्त-परिधान :

अचित्त पदार्थ को सचित्त पदार्थ से ढँकना; यह भी उक्त व्रत का दूषण है।

कालातिक्रम :

भोजन का यथा प्राप्त समय टाल कर भोजन बनाना और खाना। जिससे कि भोजन के संभावित अवसर पर कोई अतिथि आ जाय, तो न देना पड़े।

परोपदेश :

वस्तु देनी न पड़ जाए, इसलिए यह कहना कि यह वस्तु तो मेरी नहीं है; यह भी व्रत का दोष है।

मात्सर्य :

स्वयं को तो सहज भाव से दान देने की भावना नही है; परन्तु दूसरों को दान देते देख कर ईर्ष्या भाव से दान करना, कि ये करते हैं, तो मैं भी करूँ। मैं दान करने में दूसरों से कम नहीं हूँ। अहंकार से दान निर्मल नहीं रहता।

: ४० :

संलेखना-सूत्र

विधि-सूत्र :

मूल : अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-समये पोसह-सालं पडिलेहित्ता, पोसह-सालं पमज्जित्ता, दब्भाइ-संथारयं संथरित्ता, दुरुहित्ता, उत्तर-पुरत्थाभिमुहे संपलियंकाइ-आसणे निसीइत्ता, करयल-परिग्गहियं, दस-नहं सिरसावत्तं, मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वइस्सामि।

नमोऽत्थु णं अरिहंताणं, भगवंताणं, जाव संपत्ताणं।

नमोऽत्थु णं मम धम्मायरियस्स जाव संपाविउं कामस्स ।

वन्दामि णं भगवंतं तत्थ-गयं, इहगए, पासउ मे भगवं ! तत्थ-गए, इह-गयं ति कट्टु वंदित्ता, नमंसित्ता, एवं वइस्सामि ।

प्रतिज्ञा-सूत्र :

पुव्विं च णं मए पाणाइवाए पच्चक्खाए, जाव मिच्छादंसण-सल्लं पच्चक्खाए ।

इयाणिं पि णं अहं सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि। सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि । सव्वं अदिन्नादाणं पच्चक्खामि ! सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि। सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि । सव्वं कोहं जाव मिच्छादंसण-सल्लं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि ।

जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, न करेमि न न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । मणसा, वयसा, कायसा ।

सव्वं असण-पाण-खाइम-साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि ।

जावज्जीवाए— जं पि य इमं सरीरं इट्ठं, कंतं, पियं, मणुण्णं, मणामं, थिज्जं, वेसासियं, सम्मयं, अणुमयं, बहुमयं, भण्ड-करण्डग-समाणं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइय-पित्तिय-सिंभिम-सन्निवाइयं, विविहा रोगायंका, परिसहोवसग्गा, फुसन्तु त्ति कट्टु, एवं पि णं चरिमेहिं, उस्सास-नीसासेहिं, वोसिरामि त्ति कट्टु, एवं पि णं संलेहणा, झूसणा झूसित्ता, कालं अणवकंखमाणे विहरामि।

एवं मे सद्दहणा, परूवणा, अनसणावसरे पत्ते, अणसणे कए, फासणाए सुद्धो हविज्जा।

अतिचार-सूत्र :

एवं अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा झूसणा-आराहणाए, पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।

तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, पर-लोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे। तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

संलेखना-विधि :

अर्थ : (जीवन के अन्त में) मारणान्तिक संलेखना के समय में, पौषध-शाला का प्रतिलेखन करके, पौषध-शाला का प्रमार्जन करके, दर्भ आदि का संथारा (बिछौना) बिछाकर, उस पर चढ़ कर, पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके पर्यंक तथा पद्मासन आदि आसन से बैठ कर, दश अंगुली-सहित दोनों हाथ जोड़ कर, मस्तक पर अञ्जलि करके इस प्रकार बोले—

नमस्कार हो, अरिहंत भगवान् को, यावत् सिद्धि-स्थान को, जो प्राप्त हो गए हैं।

नमस्कार हो, मेरे धर्माचार्य को, यावत् सिद्धि-स्थान की प्राप्ति के लिए साधना करने वाले को।

मैं यहाँ से वहाँ रहे भगवान् को वन्दना करता हूँ, भगवान् मुझे देख रहे हैं, मेरी वन्दना को स्वीकार करें। वन्दना एवं नमस्कार करके इस प्रकार बोले—

प्रतिज्ञा :

पहले भी मैंने प्रणातिपात यावत् मिथ्या-दर्शन-शल्य तक सब पापों का त्याग किया था।

अब भी मैं सर्व प्रकार के प्राणातिपात का, मृषावाद का, अदत्तादान का, मैथुन का और परिग्रह का त्याग करता हूँ। समस्त क्रोध यावत् मिथ्या-दर्शन-शल्य तक के न करने योग्य सावद्य योगों का त्याग करता हूँ।

जीवन भर के लिए तीन करण और तीन योग से, न करूँगा, न करवाऊँगा और न करते हुओं का अनुमोदन करूँगा। मन से, वचन से, और काय से।

अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य-सम्बन्धी समस्त चार आहारों का त्याग करता हूँ।

जीवन पर्यन्त—मैंने अपने इस शरीर का पालन एवं पोषण किया है—जो मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम, अवलम्बन रूप, विश्वास योग्य, संमत, अनुमत, बहुमत, आभूषण की पेटी के समान प्रिय रहा है, और जिस की मैंने सरदी से, गरमी से, भूख से, प्यास से, सर्प से, चोर से, डांस से, मच्छर से, वात, पित्त, कफ एवं संनिपात आदि अनेक प्रकार के रोग तथा आतंक से, परीषह तथा उपसर्ग आदि से रक्षा की है। ऐसे इस शरीर का भी मैं अन्तिम सांस-उसांस तक त्याग करता हूँ। इस प्रकार शरीर के ममत्व भाव को त्याग कर, संलेखना रूप तप में अपने आप को समर्पित करके एवं जीवन और मरण की आकांक्षा रहित होकर विहरण करूँगा।

मेरी श्रद्धा एवं प्ररूपणा यह है, कि मैं अनशन के अवसर पर अनशन करूँ, स्पर्शना से शुद्ध बनूँ।

अतिचार :

इस प्रकार मारणान्तिक संलेखना के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने के योग्य तो हैं, (किन्तु) आचरण के योग्य नहीं है। वे इस प्रकार हैं— इस लोक के सुखों की इच्छा की हो, परलोक के सुखों की इच्छा की हो, अधिक जीने की इच्छा की हो, शीघ्र मरने की इच्छा की हो, काम-भोगों की इच्छा की हो, तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

व्याख्या :

संथारा :

जैन-धर्म की निवृत्ति-प्रधान साधना में 'संथारा' अर्थात् संस्तारक का बहुत बड़ा महत्त्व है। जीवन भर की अच्छी-बुरी क्रियाओं का लेखा-जोखा लगाकर अन्त समय में, समस्त पाप प्रवृत्तियों का त्याग करना, मन, वचन एवं काय को संयम में रखना, ममत्व-भाव से मन को हटाकर, आत्म-चिन्तन में लगाना, भोजन-पानी तथा अन्य सब उपाधियों को त्याग कर आत्मा को निर्द्वन्द्व एवं निःस्पृह बनाना— संथारा का महान् आदर्श है। जैन-धर्म का आदर्श है— जब तक जीओ, विवेक-पूर्वक धर्माराधन करते हुए आनन्द से जीओ, और जब मृत्यु आ जाए, तो विवेक-पूर्वक धर्माराधना में आनन्द से ही मरो। साधक जीवन का आदर्श है—संयम की साधना के लिए अधिक-से-अधिक जीने का प्रयत्न करो, और जब देखो कि अब जीवन की लालसा में, अपने धर्म से विमुख होना पड़ रहा है, तो अपने धर्म पर, अपने संयम में सुदृढ रहो, समाधि मरण के लिए तैयार रहो। इसी को संथारा की साधना कहते हैं।

अतिचार :

संलेखना के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने तो चाहिएँ, (किन्तु) उनका आचरण नहीं करना चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—

इह लोकाशंसा प्रयोग :

इस लोक के सुख-साधनों की इच्छा करना। जैसे—मैं राजा बनूँ, मैं चक्रवर्ती बनूँ।

परलोकाशंसा-प्रयोग :

परलोक के सुख-साधनों की इच्छा करना। जैसे—मैं देव बनूँ, मैं इन्द्र बनूँ।

जीविताशंसा-प्रयोग :

अधिक दिनों तक जीवित रहने की इच्छा करना। मेरी प्रशंसा हो रही है। मैं जीवित रहूँ, ताकि सुदीर्घ संथारा के महत्त्व से मेरी और अधिकाधिक प्रशंसा होती रहे।

मरणाशंसा-प्रयोग :

शीघ्र मरने की इच्छा करना। भूख-प्यास से अथवा रोग आदि से व्याकुल होकर यह सोचना, कि मैं कब मरूँगा ? जल्दी ही मर जाऊँ, तो इस झंझट से छुटकारा मिले।

काम-भोगाशंसा-प्रयोग :

काम-भोगों की इच्छा करना। शब्द एवं रूप को काम कहा जाता है और गन्ध, रस तथा स्पर्श को भोग कहा जाता है। काम-भोग की अभिलाषा करना, साधना का दूषण है।

: ४१ :

आलोचना

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और बारह व्रत, संलेखना सहित चारित्र के ९९ अतिचार सम्बन्धी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार।

जानते-अजानते, मन, वचन, काय से सेवन किया हो, कराया हो, करते को भला जाना हो, तो अनन्ता सिद्ध केवली भगवान् की साक्षी से तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: ४२ :

अष्टादश पाप-स्थान

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, रति-अरति, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, माया-मृषावाद, मिथ्या दर्शन-शल्य।

इन अष्टादश पाप-स्थानों में से किसी भी पाप स्थान का सेवन किया हो, कराया हो, करते को भला जाना हो, तो अनन्ता सिद्ध केवली भगवान् की साक्षी से तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: ४३ :

उपसंहार-सूत्र

मूल : तस्स धम्मस्स, केवलि-पण्णत्तस्स,
अब्भुट्ठिओमि, आराहणाए।
विरओमि, विराहणाए।
तिविहेणं पडिक्कंतो,
वन्दामि जिण चउव्वीसं।

अर्थ : केवली भगवान् द्वारा भाषित धर्म की आराधना में, मैं स्थित हूँ। विराधना से अलग हूँ।

तीन योगों से—मन से, वचन से, काय से, प्रतिक्रान्त होता हुआ, पापाचरण से पीछे की ओर हटता हुआ, स्व-स्वरूप में स्थित होता हुआ, मैं चौबीस तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ।

व्याख्या :

प्रस्तुत पाठ 'उपसंहार-सूत्र' है। इस में बताया गया है, कि मैं धर्म की आराधना में स्थिर हूँ, और धर्म की विराधना से विरत हूँ। धर्म की विराधना से, मैं, मन से, वचन से, एवं काय से—तीन योग से प्रतिक्रान्त होकर दोषों से पीछे हटकर पूर्व गृहीत संयम-सम्बन्धी नियमों में स्थिर होकर महान् उपकार करने वाले २४ तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ।

: ४४ :

पांच पदों की वन्दना

नमो अरिहंताणं :

नमस्कार हो, अरिहंतो को। अरिहंत कैसे हैं? चार घाती कर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय का क्षय करने वाले हैं। चार अनन्त-चतुष्टय-अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तचारित्र, और अनन्त वीर्य के धारण करने वाले हैं। देव-दुन्दुभि, भा-मण्डल, स्फटिक-सिंहासन, अशोक-वृक्ष, पुष्प-वृष्टि, दिव्य-ध्वनि, छत्र, चामर – इन आठ महाप्रातिहार्यों से सुशोभित हैं। अरिहंत भगवान् उक्त बारह गुणों से युक्त हैं, और अठारह दोषों से रहित हैं।

चौंसठ इन्द्रों के पूजनीय हैं। चौंतीस अतिशय, पैंतीस वाणी के गुण और शरीर के एक-सौ आठ उत्तम लक्षणों से युक्त हैं। वर्तमान काल में जघन्य बीस, उत्कृष्ट एक-सौ साठ, अथवा एक-सौ सत्तर तीर्थङ्कर तथा जघन्य दो करोड़, उत्कृष्ट नव करोड़ सामान्य केवली, पांच महाविदेह क्षेत्रों में विहरमाण अरिहंत भगवानों को वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, तथा जानते-अजानते किसी भी प्रकार की अविनय एवं आशातना हुई हो, तो तीन करण और तीन योग से क्षमा चाहता हूँ।

नमो सिद्धाणं :

नमस्कार हो, सिद्धों को। सिद्ध कैसे हैं? ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय—आठ कर्मों को क्षय करके जिन्होंने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, क्षायिक-भाव, अक्षय अवगाहनत्व, अमूर्तित्व, अगुरु-

लघुत्त्व, अनन्त वीर्य रूप आठ गुण प्राप्त किये हैं। इकत्तीस गुणों से युक्त हैं।

सिद्धों में वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, संस्थान नहीं, वेद नहीं, काय नहीं, कर्म नहीं, जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, पुनरागमन नहीं। अस्तु, पन्द्रह भेदी सिद्ध भगवानों को वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, तथा जानते-अजानते किसी भी प्रकार की अविनय एवं आशातना हुई हो, तो तीन करण और तीन योग से क्षमा चाहता हूँ।

नमो आयरियाणं :

नमस्कार हो, आचार्यों को। आचार्य कैसे हैं? पांच आचार, पांच महाव्रत, पांच इन्द्रिय-जय, चार कषाय-जय, नव वाड़ सहित शुद्ध-शील, पांच समिति, तीन गुप्ति—इन छत्तीस गुणों से युक्त हैं, और जो श्रुत-सम्पदा, शरीर-सम्पदा, वचन-सम्पदा, मति-सम्पदा, प्रयोग-सम्पदा, वाचना-सम्पदा, संग्रह-सम्पदा, आचार-सम्पदा—इन आठ सम्पदाओं से सम्पन्न हैं, तथा अन्य अनेक गुणों से संयुक्त हैं, उन आचार्य महाराज को वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, तथा जानते-अजानते किसी भी प्रकार की अविनय एवं आशातना हुई हो, तो तीन करण और तीन योग से क्षमा चाहता हूँ।

नमो उवज्झायाणं :

नमस्कार हो, उपाध्यायों को। उपाध्याय कैसे हैं? जो ग्यारह अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृत्दशांग, अनुत्तरोपपातिक-दशा, प्रश्न-व्याकरण, विपाकश्रुत, और बारह उपांग—औपपातिक, रायपसेणिय, जीवा-जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बू-द्वीप-प्रज्ञप्ति, चन्द्र

प्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कप्पिया, कप्प वडिंसिया, पुप्फिया, पुप्फ चूलिया, वण्ही दसा को स्वयं पढ़ते हैं और दूसरों को भी पढ़ाते है। चरण-सत्तरी एवं करण सत्तरी का पालन करते हैं। जो उक्त पच्चीस गुणों से विभूषित है। निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशा श्रुत स्कन्ध— इन चार छेद सूत्रों के, तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोग द्वार—इन चार मूल सूत्रों के, और आवश्यक सूत्र के ज्ञाता हैं।

उपाध्याय महाराज को वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, तथा जानते-अजानते किसी भी प्रकार की अविनय एवं आशातना हुई हो, तो तीन करण और तीन योग से क्षमा चाहता हूँ।

नमो लोए सव्व साहूणं :

नमस्कार हो, लोक में समस्त साधुओं को। साधु कैसे है ? पांच महाव्रत के धारक हैं। पांच इन्द्रिय और चार कषायों के विजेता हैं। भाव सत्य, करण सत्य, एवं योग सत्य से युक्त हैं। क्षमाशील हैं, वैराग्यवान् हैं। मनःसमाधारणता, वचन-समाधारणता एवं काय-समाधारणता से युक्त हैं। ज्ञान सम्पन्नता, दर्शन सम्पन्नता, तथा चारित्र सम्पन्नता से युक्त हैं। शीत-उष्ण आदि वेदना सहन करते हैं। मारणान्तिक उपसर्ग सहन करते हैं उक्त सत्ताईस गुणों से युक्त हैं।

दश प्रकार के यति-धर्म को धारण करते हैं। सत्तरह प्रकार का संयम पालते हैं। अट्ठारह पाप के त्यागी हैं। बाईस परिषह के जीतने वाले हैं। बयालीस दोष टालकर आहार लेते हैं। अढ़ाई द्वीप की कर्म-भूमि के पन्द्रह क्षेत्रों में अरिहन्त भगवान् की आज्ञा के अनुसार जघन्य दो हज़ार करोड़ एवं उत्कृष्ट नव हज़ार करोड़ साधु विहरण करते हैं।

साधु महाराज को वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, तथा जानते-अजानते किसी भी प्रकार की अविनय एवं आशातना हुई हो, तो तीन करण और तीन योग से क्षमा चाहता हूँ।

: ४५ :

अरिहंत-वन्दना

नमो श्री अरिहंत, करमोंका कीया अंत,
हुवा सो केवलवंत, करुणा भण्डारी है;
अतिशय चौंतीस धार, पैंतीस वाणी उच्चार,
समझावे नरनार, पर उपकारी है।
शरीर सुन्दराकार, सुरज-सो झलकार,
गुण हैं अनन्त सार, दोष परिहारी है;
कहत हैं तिलोक रिख, मन वच काय करि,
झुकी-झुकी वारंवार वंदणा हमारी है॥

सिद्ध-वन्दना :

सकल करम टाल, वश कर लीयो काल,
मुकति में रह्या माल, आतमा को तारी है;
देखत सकल भाव, हुवा है जगत्-राव,
सदा ही चायिक भाव, भय अविकारी है।
अचल अटल रूप, आवे नहिं भव-कूप,
अनूप स्वरूप ऊप, ऐसी सिध धारी हैं;

कहत हैं तिलोक रिख, बताओ ए त्रास प्रभु,
सदा हि उगंत सूर, वंदणा हमारी है ॥

आचार्य-वन्दना :

गुण हैं छतीस पूर, धारत धरम उर,
मारत करम कूर, सुमति विचारी है;
शुद्ध सो आचारवंत, सुन्दर हैं रूप कन्त,
अधीत सभी सिद्धान्त, वांचणी सु प्यारी है।
अधिक मधुर वैण, कोई नहिं लोपे केण,
सकल जीवों का सेण, कीरति अपारी है;
कहत है तिलोक रिख, हितकारी देत सिख,
ऐसे आचारज ताकुं, वंदणा हमारी है ॥

उपाध्याय-वन्दना :

पढ़त इग्यारे अंग, कर्मासुं करे जंग,
पाखंडी को मान भंग, करण हुशिआरी है;
चउदे पूरवधार, जाणत आगम सार,
भविन के सुखकार, भ्रमणा निवारी है।
पढ़ावें भविक जन, थिर कर देत मन,
तप करि तावे तन, ममता निवारी है;
कहत है तिलोक रिख, ज्ञान भानु परतिख,
ऐसे उपाध्याय ताकुं, वंदणा हमारी है ॥

साधु-वन्दना :

आदरी संजम भार, करणी करे अपार,
सुमति गुपति धार, विकथा निवारी है;
जयणा करे छ काय, सावद न बोले वाय,
बुझाइ कषाय लाय, किरिया भण्डारी है।
ज्ञान पढ़े आठ जाम, लेवे भगवंत नाम,
धरम को करे काम, ममता को मारी है;
कहत है तिलोक रिख, कर्मा को टाले विख,
ऐसे मुनिराज ताकुं, वन्दणा हमारी है ॥

गुरुदेव-वन्दना :

जैसे कपड़ा को थाण, दरजी वेतत आण,
खंड खंड करे जाण, देत सो सुधारी है;
काठ के ज्युं सूत्रधार, हेमको कसे सुनार,
माटी के जो कुम्भकार, पात्र करें त्यारी है।
धरती के कीरसाण, लोह के लुहार जाण,
सीलवाट सीला आण, घाट घड़े भारी है;
कहत है तिलोक रिख, सुधारे ज्युं गुरु सिख,
गुरु उपकारी, नित लीजे बलिहारी है ॥

गुरु मित्र गुरु मात, गुरु सगा, गुरु तात,
गुरु भूप, गुरु भ्रात, गुरु हितकारी है;
गुरु रवि, गुरु चन्द्र, गुरु पति, गुरु इन्द्र,
गुरु देव दे आणंद, गुरु पद भारी है।
गुरु दिखात ज्ञान-ध्यान, गुरु देत दान मान,
गुरु देत मोक्ष भान, सदा उपकारी है,
कहत है तिलोक रिख, भली भली देवे सिख,
पल-पल गुरुजी को, वंदणा हमारी है॥

: ४६ :

अनन्त[1] चौबीसी ते नमूं, सिद्ध अनन्ता कोड़।
केवल ज्ञानी थेवर सभी; वंदूं वे कर जोड़॥
दो कोड़ी केवलधरा, विहरमान जिन बीस।
सहस्र युगल कोड़ी नमूं; साधु वंदूं निम दीस॥

: ४७ :

समुच्चय जीवों से क्षमापना

सात लाख पृथ्वी काय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायु काय।

दश लाख प्रत्येक वनस्पति काय, चौदह लाख साधारण वनस्पति काय।

दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय।

चार लाख देवता, चार लाख नारक, चार लाख तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय और चौदह लाख मनुष्य।

---

१ यह पाठ कहीं पढ़ा जाता है, कहीं नहीं।

इस प्रकार चार गति, चौरासी लाख जीव योनि के किसी भी जीव को हना हो, हनाया हो, हनते को भला जाना हो, तो १८,२४,१२० बार तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

सब जीवों से मन, वचन और काय से क्षमा-याचना करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें।

: ४८ :

क्षमापना-सूत्र

मूल : खामेमि सव्व-जीवे,
सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्व-भूएसु;
वेरं मज्झं न केणइ ॥
एवमहं आलोइअ,
निंदिय गरिहिअ दुगुछिउं सम्मं।
तिविहेणं पडिक्कंतो;
वन्दामि जिणे चउव्वीसं ॥

अर्थ : मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, और वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है, किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध नहीं है।

इस प्रकार मैं सम्यक् आलोचना, निन्दा, गर्हा, और जुगुप्सा के द्वारा तीन योग से—मन से, वचन से एवं काय से—प्रतिक्रमण कर के, पापों से निवृत्त होकर, चौवीस तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ।

व्याख्या :

क्षमा, साधक जीवन का सब से बड़ा गुण है। वह साधक ही क्या, जो जरा-जरा-सी बात पर क्रोध करे। वैर-विरोध करे। लड़ाई-झगड़ा करता फिरे। वैर-विरोध की अग्नि, वह भयंकर अग्नि है, जो हृदय की मृदुता को जला डालती है। क्षमा, साधक की सब से बड़ी शक्ति है, अपार बल है।

क्षमा का अर्थ है - सहिष्णुता रखना। स्वयं किसी का अपराध न करना और दूसरों के अपराध को क्षमा कर देना। क्षमा के बिना साधना पनप ही नहीं सकती।

प्रस्तुत पाठ में, साधक संसार के समस्त जीवों को क्षमा करता है। और दूसरों से कहता है, कि वे भी मुझ को क्षमा करें। क्षमा का मूल आधार मैत्री भाव है। परन्तु वह तभी स्थिर हो सकता है, जबकि साधक के मानस में किसी के प्रति वैर-विरोध न हो। वस्तुतः वैर-विरोध को भूल कर, सब से प्रेम करना ही सच्ची क्षमा है। क्षमा की साधना से जीवन पवित्र बनता है।

आलोचना जीवन-विकास का मूल है। अपनी भूलों को समझना, और समझ कर छोड़ना—आलोचना का तथ्य है। जो साधक अपने जीवन की शुद्धि चाहता है, उसे आलोचना के पथ पर अग्रसर होना ही होगा।

निन्दा का अर्थ है—आत्म-साक्षी से अपने मन में, अपने पापों की निन्दा करना। गर्हा का अर्थ है—पर की साक्षी से अपने पापों की बुराई करना। जुगुप्सा का अर्थ है—पापों के प्रति पूर्ण घृणा-भाव व्यक्त करना। जब तक पाप के प्रति घृणा न होगी, तब तक मनुष्य उससे बच नहीं सकता। इस प्रकार आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा किया गया प्रतिक्रमण ही सच्चा प्रतिक्रमण है।

: ४९ :

मूल : आवस्सहि इच्छाकारेण संदिसह भगवं! देवसिय-पायच्छित्त-विसोहणट्ठं करेमि काउस्सग्गं।

अर्थ : भन्ते (आप) इच्छा-पूर्वक आज्ञा दीजिए (जिससे मैं) अवश्यकरणीय, दिवस-सम्बन्धी प्रायश्चित्त की विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करूँ।

: ५० :

ध्यान के विषय में मन का, वचन का, काय का जो कोई खोटा योग प्रवर्ताया हो, तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

: ५१ :

१. सामायिक
२. चतुर्विंशति स्तव
३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण
५. कायोत्सर्ग
६. प्रत्याख्यान

सुहाए, निस्सेसयाए, अणुगामियाए भविस्सति।

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण और अशुभ योग का प्रतिक्रमण।

इन पांच प्रतिक्रमणों में से कोई भी प्रतिक्रमण न किया हो, विधि-पूर्वक उपयोग के साथ न किया हो, तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

परिशिष्ट

प्रत्याख्यान

पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
पच्चक्खाणेणं आसव-दाराइं निरुंभइ, पच्च-
क्खाणेणं इच्छा-निरोहं जणयइ, इच्छा-निरोहं-
गए णं जीवे सव्व-दव्वेसु विणीय-तण्हे, सीई-
भूए विहरइ ।

अर्थ : 'भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से आत्मा को किस फल
की प्राप्ति होती है ?

प्रत्याख्यान करने से हिंसा आदि आस्रव-द्वार बन्द हो
जाते हैं, और इच्छा का निरोध हो जाता है, इच्छा
का निरोध होने से समस्त विषयों के प्रति वितृष्ण
होकर, साधक, शान्त-चित्त रहकर, विचरण करता है।

दश प्रत्याख्यान

(१) नमस्कार सहित-सूत्र :

मूल : उग्गए सूरे नमोक्कार-सहियं पच्चक्खामि। चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, वोसिरामि।

अर्थ : सूर्य उदय होने पर, [दो घड़ी दिन चढ़े तक] नमस्कार सहित प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ। अशन, पान खाद्य और स्वाद्य—चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूँ।

इस प्रत्याख्यान में दो आगार [अपवाद] है—अनाभोग = अत्यन्त विस्मृति, और सहसाकार = शीघ्रता। उक्त दो कारणों के सिवा चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

व्याख्या :

नमस्कार सहित का अर्थ है—[1]सूर्योदय से लेकर दो घड़ी दिन चढ़े तक; अर्थात्—मुहूर्त भर के लिए, विना नमस्कार मन्त्र पढ़े आहार ग्रहण नहीं करना। इसका दूसरा नाम नमस्कारिका भी है। आजकल साधारण

---

१. "नमस्कारेण—पंचपरमेष्ठि स्तवेन सहितं प्रत्याख्याति। 'सर्वे धातवः करोत्यर्थेन व्याप्ता' इति भाष्यकार वचनात् नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं करोति।"

बोलचाल में नवकारसी कहते हैं। नमस्कारिका में केवल दो ही आगार हैं—अनाभोग, और सहसाकार।

(१) अनाभोग : इसका अर्थ है—अत्यन्त विस्मृति। प्रत्याख्यान लेने की बात सर्वथा भूल जाय और उस समय असावधानतावश कुछ खा-पी लिया जाय, तो वह अनाभोग आगार की मर्यादा में रहता है।

(२) सहसाकार : इसका अर्थ है—मेघ बरसने पर, अथवा दही आदि मथते समय अचानक ही जल या छाछ आदि का छींटा मुख में चला जाय।

(२) पौरुषी-सूत्र :

मूल : उग्गए सूरे पोरिसिं पच्चक्खामि। चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

यह कथन आचार्य सिद्धसेन का है, जिसका भावार्थ है कि—मुहूर्त पूरा होने पर भी नवकारमन्त्र पढ़ने के बाद ही नमस्कारिका का प्रत्याख्यान पूरा होता है, पहले नहीं। यदि मुहूर्त से पहले ही नवकार मन्त्र पढ़ लिया जाय, तब भी नमस्कारिका पूर्ण नहीं होती है। नमस्कारिका के लिए यह आवश्यक है कि सूर्योदय के बाद एक मुहूर्त का काल भी पूर्ण हो जाय और प्रत्याख्यान-पूर्तिस्वरूप नवकार मन्त्र का जप भी कर लिया जाय। इसी विषय को प्रवचन-सारोद्धार की वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"स च नमस्कारसहितः पूर्णेऽपि काले नमस्कार पाठमन्तरेण प्रत्याख्यानस्यापूर्यमाणत्वात्, सत्यपि च नमस्कार-पाठे मुहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानभंगात्; ततः सिद्धमेतत् मुहूर्तमानकाल नमस्कार-सहितं प्रत्याख्यानमिति।" —प्रत्याख्यान द्वार।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्न-कालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

अर्थ : पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से लेकर पहर दिन चढ़े तक अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशा-मोह, साधु-वचन, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार (किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशान्ति के लिए औषध आदि ग्रहण कर लेना) उक्त छह आगार के सिवा चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

व्याख्या :

पौरुषी में छह आगार हैं। दो पहले के हैं, शेष चार इस प्रकार हैं—

(अ) प्रच्छन्न-काल – बादल अथवा आंधी आदि के कारण सूर्य ढक जाने से पोरिसी पूर्ण हो जाने की भ्रान्ति हो जाना।

(ब) दिशा-मोह - पूर्व को पश्चिम समझ कर पोरिसी न आने पर भी सूर्य के ऊंचा चढ़ आने की भ्रान्ति से अशनादि सेवन कर लेना।

(स) साधु-वचन—'पोरिसी आ गई', इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के कहने पर बिना पोरिसी आए ही पोरिसी पार लेना।

(द) सर्व-समाधि प्रत्ययाकार—किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशान्ति के लिए औषधि आदि ग्रहण कर लेना।

(३) पूर्वार्ध-सूत्र :

मूल : उग्गए सूरे पुरिमड्ढं पच्चक्खामि। चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्न-कालेणं, दिसा-मोहेणं, साहु-वयणेणं, महत्त-रागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

अर्थ : सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक (दो पहर तक) चारों आहारों का—अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधु वचन, महत्तराकार और सर्व-समाधि प्रत्यया-कार—उक्त सात प्रकार के आगारों के सिवा चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

व्याख्या :

महत्तराकार का अर्थ है—विशेष निर्जरा आदि को ध्यान में रख कर रोगी आदि की सेवा के लिए, अथवा श्रमण संघ के किसी अन्य महत्वपूर्ण कार्य के लिए गुरुदेव आदि महत्तर पुरुष की आज्ञा पाकर निश्चित समय के पहले ही प्रत्याख्यान पार लेना।

(४) एकाशन सूत्र :

मूल : एगासणं पच्चक्खामि। तिविहं पि आहारं-असणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारिया-गारेणं, आउंटणापसारणेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

अर्थ : एकाशन (तप) स्वीकार करता हूँ। अशन, खाद्य एवं स्वाद्य—तीनों आहारों का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, आकुञ्चन प्रसारण, गुरु-अभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार—उक्त आठ आगारों के सिवा तीनों आहारों का त्याग करता हूँ।

व्याख्या :

(अ) सागारिकाकार—आगम की भाषा में सागारिक 'गृहस्थ' को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अतः सागारिक[1] के आने पर साधु को भोजन करना छोड़ कर यदि बीच में ही उठकर, एकान्त में जाकर पुनः दूसरी बार भोजन करना पड़े, तो व्रत भंग का दोष नहीं लगता।

(ब) आकुञ्चन प्रसारण—भोजन करते समय सुन्न पड़ जाने आदि के कारण से हाथ, पैर आदि अंगों का सिकोड़ना या फैलाना। उपलक्षण से आकुञ्चन प्रसारण में शरीर का आगे-पीछे हिलाना-डुलाना भी आ जाता है।

---

१. आचार्य जिनदास ने आवश्यक चूर्णि में लिखा है कि आगन्तुक गृहस्थ यदि शीघ्र ही चला जाने वाला हो, तो कुछ समय प्रतीक्षा करनी चाहिए, सहसा उठ कर नहीं जाना चाहिए। यदि गृहस्थ बैठने वाला है और शीघ्र ही नहीं जाने वाला है, तब अलग एकान्त में जाकर भोजन से निवृत्त हो लेना चाहिए। व्यर्थ में लम्बी प्रतीक्षा करते रहने में स्वाध्याय की हानि होती है।

"सागारियं अद्ध समुद्दिट्ठस्स आगतं जदि वोलेति पडिच्छति, अह थिरं ताहे सज्झायवाघातो त्ति उट्ठेत्ता अन्नत्थ गंतूणं समुद्दिसति।"

सर्प और अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भी अन्यत्र जाकर भोजन किया जा सकता है। सागारिक शब्द से सर्पादि का भी ग्रहण है।

(स) गुर्वभ्युत्थान— गुरुजन एवं किसी अतिथि विशेष के आने पर उनका विनय सत्कार करने के लिए उठना या खड़े होना।

(५) एक स्थान-सूत्र :

मूल : एक्कासणं एगट्ठाणं पच्चक्खामि। तिविहं पि आहारं-असणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, गुरु अब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ : एकाशन रूप एक स्थान का [व्रत] ग्रहण करता हूँ। अशन, खाद्य एवं स्वाद्य—तीनों आहारों का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, गुरु अभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधि प्रत्ययाकार—उक्त सात आगारों के सिवा आहार का त्याग करता हूँ।

(६) आचाम्ल-सूत्र :

मूल : आयंबिलं पच्चक्खामि। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं,

गिहि-संसट्ठेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ : आयंबिलं [आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ। अनाभोग सहसाकार, लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थ-संसृष्ट, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्व समाधि प्रत्ययाकार—उक्त आठ आगार के सिवा आहार का त्याग करता हूँ।

व्याख्या :

आयंबिल में आठ प्रकार के आगार माने गए है, जिनमें पांच आगार तो पूर्व कथित प्रत्याख्यानों के समान ही है। केवल तीन आगार ही ऐसे हैं, जो नवीन हैं। उनका परिचय इस प्रकार है—

(अ) लेपालेप—आचाम्ल व्रत में ग्रहण न करने योग्य शाक तथा घृत आदि विकृति से यदि पात्र अथवा हाथ आदि लिप्त हो, और दातार गृहस्थ यदि उसे पोंछ कर उसके द्वारा आचाम्ल योग्य भोजन वहराए, तो ग्रहण कर लेने पर व्रत भंग नहीं होता है।

(ब) उत्क्षिप्तविवेक—शुष्क ओदन एवं रोटी आदि पर गुड़ तथा शक्कर आदि अद्रव—सूखी विकृति पहले से रखी हो। आचाम्ल व्रतधारी मुनि को यदि कोई वह विकृति उठाकर रोटी आदि देना चाहे, तो ग्रहण की जा सकती है। उत्क्षिप्त का अर्थ है—उठाना; और विवेक का अर्थ है—उठाने के वाद उसका न लगा रहना।

(स) गृहस्थ संसृष्ट—घृत अथवा तैल आदि विकृति से छोंके हुए कुल्माप आदि लेना—गृहस्थ संसृष्ट आगार है; अथवा गृहस्थ ने अपने लिए जिस रोटी आदि खाद्य वस्तु पर घृतादि लगा रखा हो, उसको ग्रहण करना भी गृहस्थ संसृष्ट आगार है। उक्त आगार में यह वात ध्यान रखने योग्य है कि यदि विकृति का अंश स्वल्प हो, तब तो व्रत भंग नहीं

होगा। परन्तु विकृति यदि अधिक मात्रा में हो, तो वह ग्रहण कर लेने से व्रत-भंग का निमित्त बनती है।

व्याख्या :

(७) उपवास-सूत्र :

मूल : उग्गए सूरे अभत्तट्ठं पच्चक्खामि। चउव्विहं पि आहारं—असणं, [1]पाणं, खाइमं, साइमं। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणिया-गारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिया-गारेण, वोसिरामि।

अर्थ : सूर्योदय के होने पर उपवास ग्रहण करता हूँ। अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य—चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, परिष्ठापनिकाकार, महत्तरा-कार, सर्व समाधि प्रत्ययाकार—उक्त पांच आगारों के सिवा चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

(८) दिवस चरिम-सूत्र :

मूल : दिवसचरिमं पच्चक्खामि। चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरा-गारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

---

१. तिविहार उपवास करना हो, तो 'पाणं'-का पाठ न बोलें।

अर्थ : दिवस चरम का [व्रत] ग्रहण करता हूँ। चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार एवं सर्वसमाधि प्रत्ययाकार—उक्त चार आगारों के सिवा चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

(९) अभिग्रह-सूत्र :

मूल : अभिग्गहं पच्चक्खामि। चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ : अभिग्रह का [व्रत ग्रहण करता हूँ। चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार, सर्व समाधि प्रत्ययाकार—उक्त चार आगारों के सिवा चारों आहारों का त्याग करता हूँ।

(१०) निर्विकृतिक सूत्र :

मूल : विगइओ पच्चक्खामि। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थ-संसिट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठवणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ : विकृतियों का त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिक, महत्तराकार, सर्वसमाधि प्रत्ययाकार— उक्त नव आगारों के सिवा विकृति का त्याग करता हूँ।

व्याख्या :

निर्विकृति के नौ आगार हैं, जिनमें से आठ आगारों का वर्णन तो पहले के पाठों में यथास्थान आ चुका है। प्रतीत्यम्रक्षित नामक आगार नया है, जिसका वर्णन इस प्रकार है—

भोजन बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ उँगली से घी आदि चुपड़ा गया हो, तो ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना—प्रतीत्यम्रक्षित[1] आगार कहलाता है। इस आगार का यह भाव है कि— घृत आदि विकृति का त्याग करने वाला साधक धारा के रूप में घृत आदि नहीं खा सकता। हाँ, घी से साधारण तौर पर चुपड़ी हुई रोटियाँ खा सकता है। इस सम्बन्ध में एक प्रामाणिक कथन इस प्रकार है—

"प्रतीत्य सर्वथा रूक्षमण्डकादि, ईषत्सौकुमार्य-प्रतिपादनाय यदंगुल्या ईषद् घृतं गृहीत्वा म्रक्षितं तदा कल्पते, न तु धारया।"

—तिलकाचार्य-कृत, देवेन्द्र प्रतिक्रमण-वृत्ति

---

१. 'म्रक्षित'—चुपड़े हुए को कहते हैं। और प्रतीत्यम्रक्षित कहते हैं— जो अच्छी तरह चुपड़ा हुआ न हो, किन्तु चुपड़ा हुआ जैसा भी हो; अर्थात्—म्रक्षिताभास हो।

'म्रक्षितमिव यद् वर्तते तत्प्रतीत्य म्रक्षितं म्रक्षिताभासमित्यर्थः।'

—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति

(११) प्रत्याख्यान पारणा-सूत्र :

मूल : उग्गए सूरे नमोक्कार-सहियं...पच्चक्खाणं कयं, तं पच्चक्खाणं सम्मं काएण फासियं, पालियं, तीरियं किट्टियं, सोहियं, आराहिअं। जं च न आराहिअं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ : सूर्योदय होने पर जो नमस्कारसहित प्रत्याख्यान.... किया था, वह प्रत्याख्यान [मन, वचन] शरीर के द्वारा सम्यक् रूप से स्पृष्ट, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित, एवं आराधित किया, एवं जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, तो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

व्याख्या :

प्रत्याख्यान पालने के छह अंग बतलाए गए है। अस्तु, मूल पाठ के अनुसार निम्नलिखित छहों अंगों से प्रत्याख्यान की आराधना करनी चाहिए—

१. फासियं (स्पृष्ट अथवा स्पर्शित)—गुरुदेव से या स्वयं विधि-पूर्वक प्रत्याख्यान लेना।

२. पालियं (पालित)—प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना।

३. सोहियं (शोधित)—कोई दूषण लग जाय, तो सहसा उसकी शुद्धि करना; अथवा 'सोहियं' का संस्कृत रूप 'शोभित' भी होता है। इस दशा में अर्थ होगा—गुरुजनों को, साथियों को, अथवा अतिथि जनों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना।

४. तीरियं (तीरित)—गृहीत प्रत्याख्यान का काल पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना।

५. किट्टियं (कीर्तित)—भोजन प्रारम्भ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन-पूर्वक कहना कि मैंने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, और वह भली-भाँति पूरा हो गया है।

६. आराहियं (आराधित)—सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार प्रत्याख्यान की आराधना करना।

साधारण मनुष्य सर्वथा भ्रान्ति रहित नहीं हो सकता। वह साधना करता हुआ भी कभी कभी साधना के पथ से इधर-उधर भटक जाता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा स्वीकृत व्रत की शुद्धि की जाती है, भ्रान्ति जनित दोषों की आलोचना की जाती है, और अन्त में मिच्छामि दुक्कडं देकर प्रत्याख्यान में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है। आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने से व्रत शुद्ध हो जाता है।

प्रतिक्रमण करने की विधि

प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पहले पूर्व दिशा में या उत्तर दिशा में, और यदि गुरु हों, तो गुरु के सम्मुख होकर, सामने बैठ कर '*चउवीसत्थव*' करना चाहिए। उसकी विधि, सामायिक की विधि के समान ही है। अन्तर केवल इतना है, कि '*करेमि भन्ते*' पाठ संख्या ६ नहीं बोलना चाहिए।

चउवीसत्थव के अनन्तर '*तिक्खुत्तो*' पाठ संख्या २ तीन बार बोल कर, गुरु को वन्दना करके गुरु से प्रतिक्रमण करने की आज्ञा लेनी चाहिए। आज्ञा लेकर सर्व प्रथम श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र का '*आवस्सहि इच्छामिणं*' पाठ संख्या १ बोले। फिर '*तिक्खुत्तो*' से प्रथम आवश्यक की आज्ञा ले।

प्रथम आवश्यक :

'नमोक्कार मन्त्र' सामायिक सूत्र का पाठ संख्या १, फिर *'करेमि भन्ते'* सामायिक सूत्रगत पाठ संख्या ६, *''इच्छामि पडिक्कमिउ''* पाठ संख्या २, *'तस्स उत्तरी'* पाठ संख्या ६, फिर *काउस्सग्ग* करे। *'काउस्सग्ग'* में ६६ अतिचारों का पाठ संख्या ३ से लेकर २१ तक बोले, परन्तु मन में ही, उच्चारण करके नहीं। जहाँ *'मिच्छा मि दुक्कडं'* पद आए, वहाँ पर *आलोऊँ* बोले। *नमो 'अरिहंताणं'* बोल कर *काउस्सग्ग* पारे। फिर *'ध्यान के विषय'* पाठ संख्या ५० बोल कर, दूसरे आवश्यक की आज्ञा ग्रहण करे।

द्वितीय आवश्यक :

लोगस्स, पाठ संख्या ८ बोले उच्चारण करके। फिर तीसरे आवश्यक की आज्ञा ले।

तृतीय आवश्यक :

तीसरे आवश्यक में दो *'इच्छामि खमा समणो'* पाठ संख्या २२ बोले। फिर चतुर्थ आवश्यक की आज्ञा ले।

चतुर्थ आवश्यक :

चतुर्थ आवश्यक में ६६ अतिचार पाठ संख्या ३ से लेकर २१ तक सभी पाठों को उच्चारण से पढ़े। फिर *'इच्छामि पडिक्कमिउ''* पाठ संख्या २ बोल कर श्रावक सूत्र पढ़ने की आज्ञा ले। श्रावक-सूत्र पढ़ते समय दाहिना घुटना ऊँचा करके और बायां घुटना नीचा करके बैठना चाहिए। फिर इस प्रकार बोले—

प्रथम *'नमोक्कार मन्त्र'* सामायिक सूत्र का पाठ संख्या १, *'करेमि भन्ते'*! पाठ संख्या ६, *'चत्तारि मंगलं'* पाठ संख्या २३,

---

१. 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' इस तरह भी बोला जाता है।

'इच्छामि पडिक्कमिउ' पाठ संख्या २, *'इच्छाकारेण'* पाठ संख्या ५, *'आगमे तिविहे'* पाठ संख्या ३, फिर २४ से लेकर ४३ तक के सभी पाठों को पढ़े। बाद में *'इच्छामि पडिक्कमिउ'* पाठ संख्या २, फिर दो [1]*'इच्छामि खमा समणो !'* पाठ संख्या २२ पढ़े।

इसके बाद पांच पदों की वन्दना करे।

पंचम आवश्यक :

पांचवें आवश्यक में, पहले *'नमोक्कार मन्त्र'* पाठ संख्या १, *'करेमि भन्ते !'* पाठ संख्या ६, *'इच्छामि पडिक्कमिउ'* (इच्छामि ठामि काउस्सग्गं), पाठ संख्या २, *'तस्स उत्तरी'* पाठ संख्या ६-७ पढ़ कर, फिर ४, *'लोगस्स'* का *'काउस्सग्ग'* करे। फिर *'नमो अरिहंताणं'* बोल कर *काउस्सग्ग* पारे। फिर *'ध्यान के विषय'* पाठ संख्या ५० बोल कर, एक बार *लोगस्स* का पाठ संख्या ८, उच्चारण से बोले। फिर दो *'इच्छामि खमा समणो !'* पाठ संख्या २२ पढ़े। बाद में छट्टे आवश्यक की आज्ञा ले।

षष्ठ आवश्यक :

छट्ठे आवश्यक में गुरु से *यथाशक्ति प्रत्याख्यान* करे। यदि गुरु न हों, तो स्वयं ही प्रत्याख्यान कर ले। फिर पाठ संख्या ५१ कह कर, फिर यह बोले—

षट् आवश्यकों में से किसी भी आवश्यक में जानते-अजानते जो कोई अतिचार लगा हो, तथा पाठ बोलने में मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, पद, अधिक, न्यून, आगे, पीछे, एवं विपरीत कहे हों, तो *तस्स मिच्छामि दुक्कडं।*

'गत काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का संवर, और भविष्य काल का प्रत्याख्यान।' इतना कह कर बैठ जाय और

१. यह पाठ कहीं-कहीं पञ्चम आवश्यक के प्रारम्भ में भी पढ़ा जाता है।

फिर दाहिना घुटना नीचे करके एवं बांयां घुटना ऊँचा करके दो '*नमोत्थु णं*' पाठ संख्या १० बोले।

बाद में साधु महाराज को वन्दना करे। फिर वहां स्थित समस्त श्रावकों से क्षमापना करे।

टिप्पण :

[१] प्रतिक्रमण करने वाले पुरुष एवं स्त्रियों को इतना ध्यान रखना चाहिए कि अतिचार आलोचना के पाठों में जहां पर 'आलोचना करता हूँ' पाठ है, वहाँ पुरुषों को 'आलोचना करता हूँ' यह बोलना चाहिए, और स्त्रियों को 'आलोचना करती हूँ', यह बोलना चाहिए।

[२] यहां प्रतिक्रमण करने की जो विधि दी गई है, वह स्थूल रूप में दी गई है, केवल रूप-रेखा दी गई है, पूर्ण विधि नहीं है; क्योंकि श्रावक प्रतिक्रमण की एक विधि नहीं है। विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न विधि प्रचलित हैं। अतः प्रतिक्रमण की पूर्ण विधि देना शक्य नहीं है। जहां पर जैसी विधि प्रचलित हो, तदनुसार कर लेना चाहिए।

अरिहंत-वन्दन :

राग-द्वेष महामल्ल घोर घन-घाति कर्म,
नष्ट कर पूर्ण सर्वज्ञ-पद पाया है।
शान्ति का सुराज्य समोसरण में कैसा सौम्य,
सिंहनी ने दुग्ध मृग-शिशु को पिलाया है॥
अज्ञानान्धकार-मग्न विश्व को दयार्द्र होके,
सत्य-धर्म-ज्योति का प्रकाश दिखलाया है।
'अमर' सभक्ति भाव बार-बार वन्दनार्थ,
अरिहंत-चरणों में मस्तक झुकाया है॥

सिद्ध-वन्दन :

जन्म-जरा-मरण के चक्र से पृथक् भये,
पूर्ण शुद्ध चिदानन्द शुद्ध रूप पाया है।
मनसा अचिन्त्य तथा वचसा अवाच्य सदा,
ज्ञायक स्वभाव में निजातमा रमाया है॥
संकल्प-विकल्प-शून्य निरंजन निराकार,
माया का प्रपंच जड़-मूल से नशाया है।
'अमर' सभक्ति-भाव बार-बार वन्दनार्थ,
पूज्य सिद्ध-चरणों में मस्तक झुकाया है॥

आचार्य-वन्दन :

आगमों के भिन्न-भिन्न रहस्यों के ज्ञाता ज्ञानी,
उग्रतम चारित्र का पथ अपनाया है।
पक्षपातता से शून्य यथायोग्य न्यायकारी,
पतितों को शुद्ध कर धर्म में लगाया है ॥

सूर्य-सा प्रचंड तेज प्रतिरोधी जावें झंप,
संघ में अखंड निज- शासन चलाया है।
'अमर' सभक्ति भाव बार बार वन्दनार्थ,
गच्छाचार्य-चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

उपाध्याय-वन्दन :

मंद-बुद्धि शिष्यों को भी विद्या का अभ्यास करा,
दिग्गज सिद्धान्त वादी पंडित बनाया है।
पाखंडी जनों का गर्व खर्व कर जगत् में,
अनेकान्तता का जय-केतु फहराया है ॥

शंका-समाधान द्वारा भविकों को बोध दे के,
देश, परदेश ज्ञान-भानु चमकाया है।
'अमर' सभक्ति-भाव बार-बार वन्दनार्थ,
उपाध्याय-चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

साधु-वन्दन :

शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान,
सुख और दुःख द्वैत-चिन्तन हटाया है।
मैत्री और करुणा समान सब प्राणियों पै,
क्रोधादि-कषाय-दावानल भी बुझाया है॥

ज्ञान और क्रिया के समान दृढ़ उपासक,
भीषण समर कर्म-चमू से मचाया है।
'अमर' सभक्ति-भाव बार-बार वन्दनार्थ,
त्यागी-मुनि-चरणों में मस्तक झुकाया है॥

धर्म-गुरु-वन्दन :

भीम-भव-वन से निकाला बड़ी कोशिशों से,
मोक्ष के विशुद्ध राज-मार्ग पे चलाया है।
संकट में धर्म-श्रद्धा ढीली-ढाली होने पर,
समझा-बुझा के दृढ़ साहस बँधाया है॥

कटुता का नहीं लेश सुधा-सी सरस वाणी,
धर्म-प्रवचन नित्य प्रेम से सुनाया है।
'अमर' सभक्ति भाव बार-बार वन्दनार्थ,
धर्मगुरु-चरणों में मस्तक झुकाया है॥

मेरी भावना

जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष-मार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो ॥१॥

विषयों की आशा नहीं जिनको साम्यभाव धन रखते हैं,
निज पर के हित-साधन में जो निशदिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते है,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के दुःख-समूह को हरते है ॥२॥

रहे सदा सत्संग उन्हीं का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे.
उनहीं जैसी चर्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊँ किसी जीव को झूठ कभी नहीं कहा करूँ,
परधन-वनिता* पर न लुभाऊँ संतोपामृत पिया करूँ ॥३॥

अहंकार का भाव न रक्खूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरों की बढ़ती को कभी न ईर्ष्या-भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी सरल-सत्य व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवन में औरों का उपकार करूँ ॥ ॥

मैत्री-भाव जगत् में मेरा सब जीवों पर नित्य रहे,
दीन दुखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्ग-रतों पर क्षोभ नहीं मुझ को आवे,
साम्यभाव रक्खूं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे। ५॥

---

* स्त्रियाँ भर्त्ता पढें। पुरुष वनिता पढ़ें।

गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहां तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे ॥६॥

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्याय मार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे ॥७॥

होकर सुख में मग्न न फूले, दुख में कभी न घबरावे,
पर्वत नदी श्मशान भयानक अटवी से नहीं भय खावे।
रहे अडोल-अकंप निरंतर, यह मन दृढ़तर बन जावे,
इष्ट-वियोग अनिष्ट योग में सहन शीलता दिखलावे ॥८॥

सुखी रहें सब जीव जगत् के कोई कभी न घबरावे,
वैर, पाप, अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान-चारित्र उन्नत कर अपना मनुज जन्म फल सब पावें॥९॥

ईति-भीति व्यापे नहिं जग में वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी न्याय प्रजा का किया करे।
रोग-मरी दुर्भिक्ष न फैले प्रजा शांति से जिया करे,
परम अहिंसा-धर्म जगत् में फैल सर्व-हित किया करे ॥१०॥

फैले प्रेम परस्पर जग में मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहीं कोई मुख से कहा करे।
बनकर सब 'युगवीर' हृदय से धर्मोन्नति-रत रहा करें,
वस्तु स्वरूप विचार खुशी से निजानन्द में रमा करें ॥११॥